सीढ़ियां चढ़ता सूर्य

(कवि की वर्ष 1990 में लिखी कविताएं)


वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली-110002

सीढ़ियां चढ़ता सूर्य

(कवि की वर्ष 1990 में लिखी कविताएं)

स्वदेश भारती

सीढ़ियां चढ़ता सूर्य
काव्य संकलन

स्वदेश भारती

प्रथम संस्करण 1993

वाणी प्रकाशन
4697/5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

SEEDHIAN CHADHTA SURYA
Colection of Poems
by Swadesh Bharati

Ist Edition 1993

मूल्य : रु० 85/-

डॉ० विद्यानिवास मिश्र
डॉ० गंगाप्रसाद विमल
एवं
डॉ० बालशौरि रेड्डी के लिए

मेरी रचना-प्रक्रिया

अपनी रचना-प्रक्रिया पर विचार करने से पूर्व मैं इस बात की पड़ताल करना आवश्यक समझता हू कि रचना-संदर्भ से जुड़े किन-किन आयामों के साथ मेरा साक्षात्कार हो पाया है और किन रूपों तथा अवस्थाओं में सवेदना की किस सीमा तक पहुंच पाने में समर्थ हुआ हू। अभिव्यक्ति, चिन्तन, शिल्प तथा भाषा की किन अवधारणाओं से रचा गया रचना संसार सप्रेषणीय और पाठयग्राही बन पाया है, इन प्रश्नों के घेरे में मेरी लेखकीय अस्मिता जीवन पर्यन्त घूमती रही है। मैंने रचना को मनुष्य की आंतरिक चेतना के बहुआयामी दृष्टिकोणों और उसकी जीवन पद्धतियों से साक्षात्कार करने का यत्न माना है। मेरा विश्वास है कि जब तक रचना समष्टिगत नही बनती तब तक उसका प्रभाव मनुष्य के बीच सार्थक रूप ग्रहण नही कर पाता। रचना लेखक के भोगे हुए अनुभव तथा अभिव्यक्ति से उत्सृज होती है। चाहे उसे कितने ही रूपों में सजाया जाए, उसमें लेखक के जीवन में भोगी गई स्थितियाँ, उसकी सोच के परिदृश्य, उसके चिन्तन की ऊष्मा, उसके प्रत्यारोपित जीवन-दर्शन की छाप रहती ही है। मैंने जब भी कविता लिखने का साहस संजोया, तब-तब यही लगा कि चिन्तन, अभिव्यक्ति और कल्पना के संगम पर बैठा एक ऐसे संसार को देखना चाहता हूँ जिसमें प्रेम, समानता, खुशहाली, स्वतंत्रता और अस्मिता की सुरक्षा के सभी आयाम उपस्थित हों। मैंने प्रकृति से, समाज से जो कुछ सीखा है, समय के पीछे भागते हुए जितना भी संघर्ष झेला है, उसे भी कविता में रूपायित करना चाहता हूँ। समुद्र-तट पर मैंने रेत को मुट्ठियों में जितनी बार भरा है, मुट्ठियाँ खाली होते रहने का अनुभव किया, तब-तब अस्तित्व और उसके विपर्यय का आभास हुआ है। समुद्र को मैंने अपना साधना-गुरु माना है। उसकी विराटता, उसका आत्मविह्वल आलोड़न, उद्वेलन, उसकी विराटता में समाये असीमित अमूल्य रत्न, उसकी मर्यादा में बधे द्वीप खण्ड, उसमे विलीन होती असंख्य नदियों का आवेग, मेरे मन को रोमांचित, आह्लादित करते रहे हैं। परन्तु समुद्र के हाहाकार करते हुए दुःख की भी कोई सीमा नहीं है। युग-युगान्तर से वह आत्मक्रन्दन करता कह रहा है -

"मेरे अन्दर जितने रत्न थे
मैंने सबको दिया
फिर भी क्या किसी ने
मुझे चुल्लू भर लिया
जिसने भी लिया
उपेक्षित ही किया।"

मैंने समुद्र से कुछ सीखा है। अनजाने ही अधिक जाना है। उसके तट पर अकेले बैठे हुए तट और लहर की गोपन-गाथा सुनी है।

"तट ने कहा लहर से –
तुम आओ और मुझे छुओ
लहर आई
और अपने साथ
ढेर सारा प्रीति-स्तवन-आलोड़न लाई
कहा उसने...
तुमने बुलाया और मैं आई
अब चलो मेरे साथ।
तट कुछ क्षण तक स्तब्ध रहा
फिर बोला –
यदि मैं तुम्हारे साथ जाऊँगा
तो तुम्हारी तरह मैं भी लहर बन जाऊँगा।
फिर नहीं रह पाऊँगा तट.....
इसलिए प्रीति की अस्ति के लिए
अस्तित्व अनिवार्य है।"

समुद्र-अस्तित्व की मर्यादा आज के मानव जीवन के लिए और भी आवश्यक हो गई है क्योंकि वह दूसरे महायुद्ध की विभीषिका, नागासाकी का आणविक-विध्वस-तांडव देख, सह चुका है। जर्जर आर्थिक संत्रास से संघर्ष करती मानवता की यंत्रणा भोग चुका है। और भोग चुका है मनुष्य की मर्यादा की धँसती हुई जमीन। इसलिए यह और भी आवश्यक हो गया है कि अब मनुष्य प्रकृति प्रतिमानों से सीख ले। धरती हमे अन्न, फल, फूल, खनिज देती है, नदियाँ हमें जल देती हैं, पर्वत वर्षा, गर्मी, शीत, ऋतुओं में परिवर्तन लाते हैं, समुद्र हमें असख्य रत्न देते हैं, हम बदले में भला प्रकृति के इन प्रतिमानों को क्या देते हैं? हम तो मनुष्य को भी तनिक-सा प्रेम देते हुए प्रतिदान की आकंक्षा रखते हैं। और उससे दुगने परिणाम में घृणा, हिंसा, अत्याचार, युद्ध, विनाश, भूख, हताशा देते आए हैं। जीवन का यह केयॉस मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीने नहीं दे रहा है। हम प्रकृति के चिर ऋणी न होकर उसके सामने अत्यन्त बौने, कुत्सित और लोभी दिखाई देते हैं। इसलिए अपनी कविताओं में मैंने प्रकृति के अधिक करीब जाने का प्रयास किया है। उसके अवदानों को स्वीकार करते हुए उसे अभिव्यंजना के विविध रंगों से सजाने का यत्न किया है क्योंकि यही प्रतिदान मेरी झोली में समय ने डाल दिया है और वही कुछ बचा है। मैं कुछ और दे भी नहीं सकता। इस आदान-प्रदान-प्रक्रिया के माध्यम से मैंने अनुभव किया है कि प्रकृति से प्रेम करने का अर्थ है, प्रकृति जो मानव को इतना प्रेम देती है, उसके करीब जाना है और मनुष्य को अपनत्व देना ही मेरी रचना-प्रक्रिया का संभवत सबसे बड़ा मर्म हो सकता है।

मैं आदमी को ईश्वर की महान कृति मानता हूँ। इस अर्थ में उसके मगल की कामना करना, उससे मिलन-प्रेम-सौहार्द के सम्बन्ध-सेतु निर्मित करना अपना अभीष्ट समझता हूँ। लेकिन यह तभी संभव हो पाता है जब अपने अहम् की खोल से बाहर निकल कर मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य-बोध को उजागर करने का प्रयास करता हूँ।

राजनीति, धर्म, वर्ण, जाति की संकीर्णता ने मनुष्य के रिश्ते को अपवित्र और जटिल बना दिया है। जैसे-जैसे आदमी आधुनिकता की दौड़ में, कम्प्यूटरी सभ्यता, यात्रिकी-मानसिकता के पीछे भाग रहा है वैसे-वैसे उसके हृदय का स्नेह-संप्रीति-रस सूखता जा रहा है। स्वेच्छाचारी नेता अपनी महत्वाकांक्षा की उफनती नदी में मनुष्य के कोमल रिश्ते को डुबो रहा है। इससे सामाजिक, आर्थिक न्याय जैसे शब्द बेमानी लगने लगे हैं। 'दूसरा वामाचार' की लम्बी कविता इसी मन स्थिति का रूपायन है। पाच सवारों को आज की संदर्भगत राजनीति का प्रतीक माना है –

"शब्द असली, अर्थ नकली।
देश और आजादी में सगत है यही असली।"

"परिवर्तन, देश, समाज, जनहित के लिए न भी हों
तो भी सब कुछ घटित होता है
स्वार्थ के हाशिए पर, सत्ता के
स्वार्थ में सब कुछ बदलता है।
आदमी का नाम
गांव् का संदर्भ
शहर का भूगोल
जगल की आग/अग्निमुखी आवाजें
आवाजों के अर्थ
अर्थ के अनर्थ
वादे और नारे
ईमान, धर्म और राजनीति
नीति और नीयति के जलसाघर में
नगा राजा नाचता है
सूखे मौसम की हरियाली का
गीत उभरता है
और हम
प्रवचना के अंधेरे जंगल में
घायल आस्थाओं को सजोते सवारते
करते रहेगे हर अन्धी सुबह के बाद
अगली सुबह का इतजार। हर बार। हर बार। इसी तरह ...

कलकत्ता हो, दिल्ली, बम्बई, मद्रास या विश्व के दूसरे महानगर, आधुनिक जीवन की विचित्रताओं और आर्थिक विषमताओं के रूप में दिखाई देते है। ऐश्वर्य–विलास, उत्थान–पतन का अपटाक्षेपकीय अन्तहीन नाटक देखा है। मैंने अंधी राजनीति की छलना के साथ–साथ मनुष्य के विपर्यय का जानलेवा खेल देखा है। मैंने बम बनाते, हत्याए करते, लाठी, आंसूगैस से क्षत–विक्षत, भयाक्रान्त भागते हुए क्रांतिकारियों के शौर्य और कायरपर को भी देखा है। मैंने हजार–हजार औरतों को अस्तित्व के लिए क्षुधार्थ पेट को हथेली पर रखे फुटपाथों, पार्कों, अंधेरी गलियों, क्लबों, रेस्तरा, होटलों के आर–पार भागते देखा है और देखा है लोभ और आत्मछलना में जीते हुए बुद्धिजीवियों के दल जो हर सुबह शाम अपने विचारों की खोल बदलते हुए अपने को चिन्तन, लेखन–संसार में स्थापित करते रहे। 'कलकत्ता ओ कलकत्ता' (लम्बी कविता) लिखते समय मैंने जितना अपने अन्दर बेचैनी, निराशा और आत्मसंघर्ष झेला है, उतना सभवत किसी अन्य रचना के लिए कतई नहीं झेला। कलकत्ता को मैंने इतिहास का सुन्दर आइना माना है। इसलिए लम्बी कविता का अन्त भी इस प्रकार हुआ :–

"और तुम देखते रहे चुपचाप
आइने पर घायल, सोने की चिड़िया के रक्त–छाप
फिर भी बने रहे समय–प्रतिबद्ध
दासत्व बोध से आहत
आत्मसत्ता–सर्जनाबद्ध
समय–सत्य को स्वीकारते रहे
कि जो आदमी के दासत्व और
पतन का कारण बनते
मनुष्य की स्वतत्रता
और उसकी अस्मिता की हत्या करते
वे इतिहास भले ही बन जाए
मानव–सभ्यता का आइना नहीं बन सकते।"

कलकत्ता स्वाधीन आन्दोलन तथा नव–विचार क्रान्ति का मुख्य स्थल रहा है। यहां के बुद्धिजीवी अक्सर कहते है, 'जो कलकत्ता और बंगाल आज सोचता है। देश कल सोचेगा" यहां लेखक, कवि अपने अहम की कुंडली में लिपटा रहता है। वह दिमाग में बंधी गठरी को बहुत मुश्किल से खोल पाता है। क्योंकि उसमें क्रांति–धर्मा होने की जिद बंधी होती है भले ही वह जिद पराजित ही क्यों न कर दे। कलकत्ता महानगर के निर्माण और बिखराव का यही सतही सत्य मुझे अखरता रहा। इस लम्बी कविता में मैंने अन्त चेतना के उस उत्स को पहचानने का प्रयत्न किया है जहां तथाकथित प्रगतिवादी अपने खोखलेपन की असफलता के साथ दिखाई देते है।

"जब रेस के घोड़े की तरह भागता है जीवन
तू शहीद मीनार से चीखता है सन्निपात-ग्रस्त
अंधेरे की मौत से कराता परिचय
देता नयी रोशनी,
नया सन्देश
पर तुम्हारा सन्देश लैंपपोस्ट की रोशनी होता है
जिसे कारपोरेशन का जमादार हर शाम जलाता
और सुबह होते ही बुझा जाता है।"

मैं मानता हूँ कि आज भी कविता मनुष्य के भोगे हुए यथार्थ का आइना है। उसमें जीवंतता होनी ही चाहिए। उसमें काव्य की आत्मा होनी चाहिए। उसमें मनुष्य और प्रकृति के बीच की दूरी कम करने, मनुष्यत्व को अपनाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। इसलिए मैं बार-बार टी.एस. इलियट को स्मरण करता हूँ कि 'कविता वह है जो कविता है'। "चौथा सप्तक" में प्रकाशित अपने वक्तव्य में भी मैंने इसी बात पर विचार करना चाहा था कि जिस कविता की आत्मा नहीं, क्या वह कविता हो सकती है। इसलिए गहरे मन की व्यक्तिगत समष्टिगत पीड़ाओं या प्रेम-विह्वलता की अभिव्यक्ति ही कविता नहीं होती। यदि उसमें काव्य के गुण न हो, संप्रेषणीयता न हो, जीवन की आस्थाओं का चित्रण न हो तो वह कुछ भी हो, कविता नहीं। आधुनिक काव्य-चेतना, निरन्तर बदलते परिवेश और भोगे गए यथार्थ की सवेदना, अभिव्यक्ति तथा मनुष्य-परक चिन्तन का 'कैन्वस' है जिस पर कवि कल्पना की तूलिका से अपने भावों के गोपन-अगोपन चित्र बनाता है। उसके पास जितने अधिक संवेदना के रंग होंगे उतना ही बेहतर चित्र बनेगा। कभी-कभी सवेदना के अभाव में वह उधार माँगी गई मानसिकता के काले, लाल, पीले, तरह तरह के रंगो से क्रान्तिपरक नया रंग बनाने में अक्षम हो जाता है, ऐसे में वह जो भी काव्य-चित्र बनाता है उसे ही बेहतर मानने और मनवाने की प्रक्रिया उसे ऐसे समूह के पास लाकर खड़ा कर देती है जो ऐसी ही सामग्री से वाद-मंच का विस्तार करते है। उसकी निरीक्षा-परीक्षा चलती है। उस पर मेले लगते है। उस भीड़ में कविता चीखती, चिल्लाती, रोती हुई अपनत्व की तलाश में भटकती रहती है। यह भटकाव कविता को परायापन और यायावरी स्थितिया जीने पर मजबूर कर देती है। मै अपनी कविता को ऐसे मेले के बीच भटकने नहीं देना चाहता।

"ओ कविता। विस्तृत समुद्र के किनारे।
बालू की तरह झर-झर तुम्हारे खुरदरे स्पर्श को
बांधते हुए, तुम्हारी 'साइबेरियन'-गंभीरता से,
पलाशवन-प्यार से, बासती-हसी से, कटता जाता हूँ हर पल
जलता हूं अधेरे जंगल के बीच बासवन की तरह
और शताब्दी के चिन्ताग्रस्त पतझर में

दुर्भिक्ष समय के पीले पत्ते मेरे पांवों से लगकर
जब करते हैं आवाजें। तलाशता हूँ तुम्हें
अन्धे की गिर गई लाठी की तरह...।"

सोच की सूखी नदी में भावभिव्यक्ति की नाव चल नहीं सकती। कला के लिए सोच और भावाभिव्यक्ति दोनों आवश्यक हैं। कविता के लिए तो सोच की नदी का अस्तित्व और भी आवश्यक है क्योंकि उसके बिना आज की कविता में प्रवाह आ ही नहीं सकता। मैंने इस अनुभव को जीने का प्रयास किया है। सम्भवत यही कारण है कि मुझे चिन्तन-नव-चिन्तन के आधार सहज ही मिलते रहे हैं। मैंने तटस्थता को उसी रूप में अपनाने की कोशिश की है। जिस प्रकार मर्माहत समुद्र अपने विस्तार के दायरे में मर्यादित रहता है और मर्यादा तभी तोड़ता है जब तूफानी हवाओं का असहनीय दबाव बढ़ता है। जीवन ऐसी अनेक तूफानी हवाओं से धूल धूसरित होता रहता है। चिन्तन का उससे प्रभावित होना कोई रोक नहीं सकता। इसलिए कविता जीवन की सहज प्रक्रिया से अलग हो ही नहीं सकती। यदि होती है तो विकलांग रूप में सामने उभरकर आती है। वहां जबरदस्ती यह कहकर उसे सप्रेषणीय नहीं बनाया जा सकता कि अमुक कविता जन-चिन्तन के बहुत नजदीक है और उसे ही आज की मौलिक कविता माना जाए। कोशिश और कशिश दोनों कविता-लेखन, वाचन, पाठन के लिए अपाच्य हैं। उससे कविता का एक ढाचा बनाया जा सकता है। उसमें प्राण-संवेदना नहीं भरी जा सकती। सभवत मेरी बातें कुछ लोगों को अच्छी न भी लगे और वे इसका विरोध भी कर सकते हैं परन्तु किसी गढ़े हुए अविचार तथा असत्य के प्रति कला-साधकों को सचेत करने का प्रयास विरोध की कसौटी पर नहीं कसा जाना चाहिए। फिर भी आज तो हर व्यक्ति राजनीति प्रेरित और स्वतत्र है। उसे स्वतत्र चिन्तन भी बैसाखियों पर टिका हुआ फलसफा लगता है। ऐसे में प्रकृति के साथ साक्षात्कार करने की बात करना अरण्य-रोदन ही कहा जा सकता है।

फिर भी काव्य परम्परा को ध्यान में रखते हुए प्रकृति के साथ आत्मीय सबध स्थापित करना मेरा यथासाध्य प्रयास रहा है। इस तथ्य को मैंने अपने लेखन का मत्र भी माना है। काफी पहले यानी छात्र-जीवन से ही मैं प्रकृति के प्रति विशेष आग्रही रहा हूँ। उगते सूरज और प्रत्यूष बेला के आकाश के विविध रंगों, गगा जमुना के विचित्र पावन सगम, हरे भरे खेतों के बीच चलते हुए, अमराई में बौर लगी आम की डाल पर कोयल के गीत को सुनकर मैं आत्मविभोर हुए बिना नहीं रहा और जब गाव से शहर रोजी रोटी की तलाश में आया तो नगर सभ्यता की ओढ़ी हुई आधुनिकता और आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सास्कृतिक असमानता, शोषण, अभावग्रस्तता से सत्रस्त जिन्दगी के विविध रूप देखकर नगर सभ्यता के सत्रास को अधिक निकट से जाना, समझा और अनुभव किया। मेरा पहला कविता संग्रह "इक्कीस सुबह और" 1969 में प्रकाशित हुआ। उसी के साथ उपन्यास "शवयात्रा" भी प्रकाशित

हुआ। इस संकलन में जिन कविताओं को शामिल किया गया था, उनमें नगर बोध की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष छाया दिखाई देती है। मैंने कलकत्ता को 'दराजों वाला नगर' माना है जो आकाश की ओर दोनों बाहें उठाए हुए खड़ा है और आज आदमी अतीत और वर्तमान के बीच 'थर्मस में कैद गर्म चाय है, जिसकी अस्मिता रूपी भाप शून्य दीवारों से माथा धुनती है। पर बाहर नहीं निकल पाती।' यह विवशता आज की पीढ़ी की नहीं हो सकती। 'शवयात्रा' मेरा प्रतीकात्मक उपन्यास है, जिसमें हर व्यक्ति अपने ही शव को अपने कंधों पर लिए जीवन पर्यन्त घूमता रहता है। उसमें नगर-त्रासदी का चित्र आंका गया है। परन्तु यह मेरा निजी वक्तव्य है। पाठक इसे पढ़कर क्या प्रतिक्रिया ग्रहण करेंगे, इसे मैं सुधी पाठकों पर छोड़ता हूँ। पाठकों के लिए मैंने हमेशा चिन्ता की है। चाहे उपन्यास लेखन हो अथवा कविता-लेखन मैंने हमेशा यह माना है कि लेखन का आधा हिस्सा पाठक होते हैं। इसलिये संप्रेषणीयता का सवाल जब, जहाँ उभरा है मैंने पाठको का पक्ष लिया। लेखन-चिन्तन में अहम् को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता रहा है। मैं ऐसा नहीं मानता कि दुनिया की किसी भाषा के मौलिक लेखक ने पाठकों के अस्तित्व को नकार कर रचना की हो। स्वान्तः सुखाय की अवधारणा आज के परिप्रेक्ष्य में सतही लगती है। हिंदी में भी यदि पाठकों के लिए चिंता की गई होती तो मौलिक लेखन के विघटन की ऐसी स्थिति नहीं होती जैसी कि आज है। क्योंकि जिस तरह मौलिक सृजन की विशिष्टता समय-सापेक्ष है, उसी तरह पाठकों के बीच उस लेखन की संप्रेषणीयता भी आवश्यक है। यह-मौलिक रचना के विस्तार के लिए भी अनिवार्य है। मैंने अपनी विदेश यात्रा के बीच कई देशों के लेखकों, प्रकाशकों से इस विषय पर चर्चा की है। वे पाठकों को हमेशा ध्यान में रखते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि पाठक को ध्यान में रखकर लिखते छपते हैं या पाठकों के लिए ही लिखते हैं। वे यह मानते हैं कि पाठक रचना का भागीदार होता है। इसलिए उसे नकारा नहीं जा सकता है। पाठक रचना का एक पक्ष होता है।

एक ऐतिहासिक सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि जो मौलिक रचनाकार स्वभावतः प्रकृति-प्रिय होते हैं, वे सहज रूप से पाठक-प्रिय भी होते हैं। जो इस सत्य से परे सोचते हैं कि पाठक का मौलिक रचना से कोई लेना-देना नहीं अथवा पाठक को ध्यान में रखकर कोई रचनाकार नहीं लिखता अथवा रचना के साथ पाठकों को नहीं जोड़ा जा सकता। उनसे मैं एक प्रश्न पूछना चाहूंगा कि उनके जन्म-उद्‌गम, विकास-प्रक्रिया के मूल में क्या प्रकृति नहीं रही अथवा मृत्योपरान्त क्या उनका एक-एक कण प्रकृति में विलीन नहीं होगा। रचनाकार के लेखन-चिन्तन को आखिर कौन अपनाते हैं? क्या पाठकीय चिन्ता बिना प्रकाशक किसी भी पुस्तक को छापने के लिए तैयार होते हैं। इसलिए पाठक का महत्व वाचक-रचनाकार के रूप में है। इससे साहित्य के सत्यम्, सुन्दरम् पक्ष को भी उभारने का प्रयास किया जाता रहा है क्योंकि रचना, सर्वे भवन्तु सुखिनः तथा समष्टिगत सोच के बिन्दुओं पर आधारित होने

पर ही सर्वग्राह्य बनती है। 'दूसरा वामाचार' 'आवाजों के कठघरे में', 'कलकत्ता – ओ – कलकत्ता', तथा वर्ष 1989 में प्रकाशित मेरी काव्य-पुस्तक 'भरे हाट के बीच' तथा 'त्रासदी के द्वार पर' की कविताओं में मेरी चिन्ता समाज के प्रति अधिक रही है क्योंकि विगत बीस वर्षों में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक ढाँचे एक-एक कर टूटते रहे और आदमी असहाय हो गया। उसके सामने भारतीय मूल्य विकलांग होकर आश्रय के लिए राजपथ पर घिसटने लगे। हमने भारत को सजोने का भरसक प्रयास किया परन्तु भारतीयता को खो दिया और उन मूल्यों को भी, जो हमारी सभ्यता, हमारी जीवन-पद्धति, हमारी आस्था के अद्वितीय आभूषण थे। समय-असमय की इन्हीं अवधारणों को चिन्तन की झोली में लिए मैं कविता के टेढ़ें-मेढ़े रास्ते पर चल रहा हूँ, चलता रहूंगा . ...।

वसन्त पचमी, 1993 —स्वदेश भारती

कविता-क्रम I

आकाश-अस्तित्व ... 15
परिचय-अपरिचय ... 16
मौसम का अहसास ... 17
जीवन-क्रम ... 18
जीने का अर्थ ... 19
जाना-अजाना ... 20
प्यार-व्यथा ... 21
रूपकली ... 22
नये सदर्भ ... 23
भीड़ भरा बियाबान ... 24
राधा का प्यार ... 25
अभिव्यक्ति मेरी सखी ... 26
संवेदना से परे ... 27
स्वप्न-गंगा ... 28
किरण-जाल ... 29
खालीपन ... 30
अतीत-संदर्भ ... 31
सूर्योवाच ... 32
शब्द हीन चुप्पी ... 33
मन स्थितियां ... 34
भविष्य-सभाव्य ... 35
शहर एक खबर ... 36
फागुनी-भोर ... 37
मां ... 38
मन-वसन्त-गीत ... 39
शब्दार्थ ... 40
शब्द-खेल ... 41
नीली-विराटता ... 42
लहर की पीड़ा ... 43
मन-महानगर ... 44
कविता एक समुद्र ... 45
मन के भीतर एक वृक्ष ... 46

कविता-क्रम II

सीढ़िया चढ़ता सूर्य 47
गोपन-हसी 48
ढहते स्वप्न-सेतु 49
बातों से बातें 50
वर्ष पर वर्ष बीत जाते 51
धरती का दान 52
देश-प्रेम और रोटी 53
आजादी तीन चित्र 54
रोटी की ताकत 55
आत्म-मथन 56
उजड़े जगल की ओर 57
अतीत-संदर्भ 58
मुक्त कर दो अन्तर-मन 59
सप्रीति-गीत 60
आओ फिर एक बार श्याम 61
कंचनजघा की ओर 62
अलविदा 63
त्रासदी 64
अस्मिता के अश्वमेघ 65-66
नदी-अस्तित्व 67-68
दृष्टव्य 69
होने का अहसास 70-71
नदी बीच नाव चली 72
समय-आशीष / प्रच्छन्न-युद्ध 73-74
समय-गीत 75
आत्मीय-स्पर्श 76
आत्म-मंथन 77
जीवन-समुद्र 78
अंधकार की आग का धुंआ 79
रश्मि-बाण 80
समय और सौन्दर्य 81
आधासाल बीतने पर 82

उनींदी सांझ 83
नारी-अस्तित्व 84
समय का दु:शासन 85
फिर दरवाजे पर चोट 85-86
जानकी-शिला 87
नदी की लहर 88
जीवन-प्रवाह 89
मौन का बंधन 90
पुतली-खेल 91
सन्नाटे का जाल 92
गलियारे की धूप 93
शब्द-चित्र / स्वप्नजीवी 94
प्यार कभी मरता नहीं 95
संबंध 96
प्रात की पहली किरण के साथ 97
सर्जना के विविध-आयाम 98
प्रेम की परिभाषा 99
धरती मेरा तन 100

आकाश – अस्तित्व

जब भी मैं आकाश देखता हूँ
अपने को सृष्टि का
लघुतम जीव मानते हुए
सोचता हूँ
मैं भी अपने आकाश को
विस्तृत, नीला और
अनन्त बना सकता हूँ
परन्तु तभी दिखाई देते हैं
असंख्य लोगों के
बंधे, सहमे, सिकुड़े, खण्ड–खण्ड,
अपनत्व हीन आकाश
जिसके नीचे बैठे हैं
सपनों के वृन्तहीन वृक्षों को उगाते
फल की प्रतीक्षाएं करते हैं
कोलाहल के बीच
मैं भी उनके साथ बैठा हूँ
प्रतीक्षा करता
कि अकेले से बेहतर है
सामूहिक आकाश जीना
और उसे अनन्त–आयामी
बनाने के लिए यह भी जरूरी है
कि हम छोड़ दें
दायरों में जीना।

कलकत्ता, 9 जनवरी, 1990

परिचय – अपरिचय

यदि मैं
अजानी डाल का फूल होता
इतराता अपनी सुगन्धि पर
वन-प्रान्तर को सुवास देता
और उस सुवास में भर लेता
पंछियों के मंगल-गीत
भौरे का गुनगुन
धरती की सदाशयता, हरियाली
क्षितिज में उभरता बहुरंगी आकाश बन
प्राणों में सजाता
सम्मोहन-संगीत-राग
सर्वस्व समर्पित कर देता
यदि मैं अजानी डाल का फूल होता
परन्तु मैं
बार-बार सूघा जाता
अनगिन दृष्टि-आकर्षण-जाल में बंधा
जोड़ता रहा अपनत्व और तोड़ते रहे
आते जाते पंछी अपना नाता
फिर भी हृदय में छिपाए रहा
दर्द के बादल। जो अन्दर ही अन्दर
घुमड़ते रहे आखों के आकाश में
बार-बार बरसते रहे। ओसकण बन कर
पंखुड़ियों, डालियों और कण-कण को भिगोते रहे
मन के आर-पार जमी सबधों की धूल धोते रहे
मेरे व्यामोह-बंधन या टूटन से
किसी का क्या आता जाता है
जबकि भीड़ भरे अपरिचय के बीच
अपने को खोलता रहा
अपरिचित सा बार बार।

कलकत्ता, 10 जनवरी, 1990

मौसम का अहसास

वृंत के सहारे
मौसम के हाथों
अपनापन सौंपते हुए
सजाए रखा अपने को
कि पथिक देखें मुझे
और सराहें
कि मैं भी इस बागे-बहार का
एक फूल हूँ
परन्तु शायद यह हालत मेरी न होती
यदि मैं जंगल का वृक्ष होता
किसी अजानी डाल पर पलता
बड़ा होता, फूलता
और अपनी सुवास में लिपटा
मुर्झा कर किसी कोने में वृंतहीन झड़ जाता
परन्तु तब वह मेरे अस्तित्व का
विपर्यय ही होता
कि अजाना ही फूलता
सुगन्धि देता
और धूल में मिल जाता
इससे अधिक सार्थक है
चारों ओर हरियाली के बीच
मैं फूल बनकर
सबको सुवास दूं
समान रूप से उनके अहसास बांटूं
और इससे बड़ा सुख
मेरे लिए भला और क्या हो सकता है
यदि मैं किसी अजानी डाल का फूल बनूं।

कलकत्ता, 11 जनवरी, 1990

जीवन-क्रम

यूं ही चलते-चलते चले जाएंगे
और जब दोबारा आएंगे
तो नहीं रहेगा यह कमरा
यह कुर्सी, यह मेज, यह कलमदान
और नहीं बेतरतीब किताबों से भरी आलमारी
रह जाएंगे धरे के धरे
देह-सुख के लिए जुटाए गए सभी संसाधन
टूट जाएंगे अच्छे से जी लेने की
आदम-खोर इच्छाओं के सारे बंधन
यूं तो कोई न कोई
भूला भटका
आएगा और इस कमरे की
बेतरतीबी दूर करेगा
या कमरे में नए रंग रोगन लगाएगा
नये साज सजाएगा
जो भी आएगा
संभवतः किताबों की आलमारी और
किताबे बदलेगा नई किताबों से
शब्दों को अदल-बदल कर नया अर्थ देगा
क्योंकि शब्दों से रचित किताबें
जो आज मेरी धरोहर है
कल उसकी हो जाएगी।
हो सकता है
मैं ही दोबारा आऊं नये परिवेश में
इसी कमरे की किसी नई पुस्तक के नये शब्द-भेष में
आखिर लौटने के सिवाय
कहां जाऊंगा, भला और कहां?
मैं फिर वापस आऊंगा।

कलकत्ता, 12 जनवरी, 1990

जीने का अर्थ

बात करने की है
हवा बहने की है
मर्म में कसकती, टीसती,
बेचैन करती पीड़ा सहने की है
जो बात मर्म न खोले
जो हवा न डोले
जो पीड़ा प्राण-सवेदना की
व्यथा-कथा न बोले
वह बात अनकही है
वह हवा अनबही है
वह पीड़ा अनसही है
अस्तित्व-बोध के लिए विनार्थ-अहसास व्यर्थ है
इसलिए कि इन तीनों का
हमारे जीने के लिए विशेष अर्थ है।

कलकत्ता, 15 जनवरी, 1992

जाना – अजाना

बहुत कुछ जाना हुआ अजाना रह गया
और जो कुछ अनकहा था
समय की पाठशाला में
कर्तव्य-बोध के 'ब्लैकबोर्ड' पर
लिख लिखकर गुरूतुल्य
आकांक्षाओं ने जिसे चाक से
स्लेट या कागज पर कलम से लिखवाया था
मैंने अनुमाना
कि अब तक वह जाना गया सत्य भी
समय-नदी-प्रवाह में
बह गया
और बहती रहेगी जाने-अजाने की अजस्त्र-धारा निरन्तर
ज्ञान-अज्ञान, मान-अभिमान
प्रवचना के पुलिन-बंध तोड़ती
हृदय-कगार के स्पर्श को महसूसती
विचारों को नये अनुभव-तटों से जोड़ती
उस प्रवाह में
जो भी रुका, वह बालू के कगार की तरह ढ़ह गया
यही समझा गया कि
जो जाना गया अजाना बन समय की धार में बह गया
और बहुत कुछ जाना अजाना ही रह गया।
कामना के शैवाल उठे
उठते रहे, उठते रहेंगे निरन्तर
प्रेम-सौन्दर्य-वसन्त के सुवास से
अथवा प्रकृति के हरित-भरित-रूप-हास से
भरता रहेगा पृथ्वी का अन्तर-
बहिरान्तर
पर वह कौन सा गोपन-सत्य है जो
समय की धारा में बहने से रह गया
जिसके जाने बिना मर्म का रेतघर ढह गया
और बहुत कुछ जाना गया सत्य अजाना ही रह गया।

कलकत्ता, 17 जनवरी, 1990

प्यार–व्यथा

प्यार की पहली किरण
अनुरक्त–ज्योतिर्मय
सदा करती हृदय को प्राणमय।
वेदना की तर्जनी से
थपथपाती द्वार
जिस पर लिखा होता–याद
खुलता द्वार भी यदि
एक हल्की टीस सी उठती हृदय में
प्यार के उस देवता को
देखने, छूने,
प्रणय की डोर से बंध
बांधने को प्राण आकुल
बस यही वह कर्म
जितना जानता मैं
प्यार ही वह मर्म
जिसकी तड़प से
होता व्यथाकुल
प्राण–मन।

कलकत्ता, 26 जनवरी, 1990

रूपकली

रूपकली खिली
स्नेह – वृत पर
मौसम ने थपकी दी – जिओ
सिन्दूरी किरण ने दी आशीष – आनंदित रहो
अलख सबेरे विहग–कल–कूज–गान ने
दिशाओं को झंकृत किया
अमराई में बही बयार–धीरे–धीरे
बसन्त–आगमन का किया शंख–नाद
टेसू के फूलों से सजी डाल हिली
रूपकली खिली।

नदी हो या सागर–तट
पर्वत, उपत्यिका, घाटी, पर्वत
सिवान या शहर
एक चर्चा है – चौपाल और फुटपाथ पर
चलो अच्छा हुआ
गई शीत सिहरन
आई वासन्ती वेला
पेड़ों को नव पल्लव–रूप कथा मिली
धरती को फूलश्री, अलिन्द को मधु–पराग
जनजन को
उल्लास, मधुता, प्रेम–राग
और जड़ता को पतझर–अवहेला मिली
रूपकली खिली।

कलकत्ता, 1 फरवरी, 1990

कितने नये नये सदर्भ
लुभावना-ससार सर्जित करते हैं
कितने नये नये फूल
मन में फूलते हैं
कितने नये नये सपने
रात की बाहों में सोते
और सुबह होते ही
अदृश्य हो जाते हैं
कितने ही नये शब्द
नये अर्थ ग्रहण करते है
यहा तक कि जीवन के
अर्थहीन सत्य भी
नये से नये विनार्थ ही सही
अर्थवत्ता सिद्ध करते है
कितने ही नये नये सदर्भ
हमें मोहक जाल-पाश में बाधते
और चेतना को
नये नये अर्थों मे
अपनी पहचान से मन की जमीन मे
आत्मीयता अकुरित करते है
कितने ही पुराने से पुराने सदर्भ
हमें अपने सुख से गर्वित करते
दे जाते नया अर्थ।

कलकत्ता, 3 फरवरी, 1990

भीड़ भरा बियावान

यहाँ कहाँ शाम का सौन्दर्य–
कुँआरापन
यहाँ कहाँ सुबह का ओस–भींगा हरियालापन
यहाँ कहाँ चरवाहे की सुरीली–
वंशीतान
यहाँ कहाँ बैलों के गले में बंधी
बजती घंटिया
शिवालय से उभरता
ढोल मंजीरे पर उन्मुक्त कीर्तन–गान
यहाँ कहाँ
सरसों के पीले फूलों से पीला हुआ
सिवान
यहाँ कहाँ.
पीपल की सघन छाया में वदित
नीमतले देवस्थान
यहां कहां
गवई बांकुड़े अखाड़े पर करते दण्ड–बैठकें
कुश्ती लड़ते पहलवान
यहाँ कहाँ
मेहावरी शाम का जदुअई सौन्दर्य
ज़ीवन का स्वच्छन्द बांकपन
यह तो शहर का भीड़ भरा वियाबान है
यहाँ कहाँ प्रीति का नन्दन–कानन।

कलकत्ता, 5 फरवरी, 1990

राधा का प्यार

राधा ने प्यार दिया
कान्हा ने प्यार किया
इस तरह जो भी
जितना भी कान्हा ने दिया
उसे राधा ने नहीं
गोपियों ने जिया
पर प्यार, प्रवंचना नहीं होता
और प्यार किए पर कोई नहीं रोता
रोता है वही जो प्यार के युद्ध में
हारता है
अथवा वह, जो प्यार के लिए
अपनापन मारता है।
पर राधा ने अपनत्व दिया
प्यार दिया
कृष्ण ने उसे लिया
पर वरण नहीं किया
वरण कहीं और किया
इस तरह जो भी कान्हा ने किया
उसे रूक्मिणी ने नहीं
गोपियों ने जिया
भले ही कृष्ण के विछोह में
अपने जीवन को वार दिया
पर कृष्ण ने
प्यार का प्रतिदान नहीं लिया
राधा ने [illegible] जिया
का[illegible] किया।

कलकत्ता, 14 फरवरी, 1990

अभिव्यक्ति मेरी सखी

अभिव्यक्ति मेरी आत्म-सखी
कभी मेरे साथ चलती
आत्मीयता के पग-बंध बांधती
प्यार भरी चितवन से
मन-प्राण को उकेरती
सवेरे की जरतारी किरण बन
मस्तिष्क-आकाश में
बहुरंगी आभा बिखेरती
अभिव्यक्ति मेरी सखी
गन्तव्य तक चलते हुए थकने या
उदास होने पर पाथेय बनती
पथ-प्रदर्शक बन, अभिन्न आत्मीय
मित्र की तरह
नये-नये संदर्भों से परिचय कराती, जोड़ती
कभी बनती नदी
और मुझे तट बनाती
कभी बनती बादल
और मुझे बंजर धरती का संकेत-बीज बनाती
कभी समुद्र की लहर
या नदी धार बनती
और मुझे अपने हिल्लोल से अवगाहित करती
बर्फ से ढकी पर्वत-माला की उरोजोन्नत-शिखर बनती
और उस पर से नये भाव-बिम्बों को फिसलने देती
फिर हाथ थाम लेती और चल पड़ती
नीली सुरम्य पर्वत-घाटियों के बीच
झरनों की आकुल-आत्मकथा कहती
अभिव्यक्ति मेरी आत्म-सखी
जीवन के नये-नये रहस्य-द्वार खोलती।

कलकत्ता, 16 फरवरी, 1990

संवेदना से परे

कितनी ही बार ऊब और घुटन की
मर्माहत वेदना लिए
मेरी पसलियों में टीस उठती है
भीड़ भरे फुटपाथ के बीच
आगे बढ़ने की कोशिश में
पीछे घिसटते हुए,
भीड़ भरी बस और ट्यूबरेल में
आलू के बोरे की तरह ठस्स
दमघोटू वातावरण झेलते हुए
दूध, राशन, मिट्टी के तेल
गैस के लिए या स्कूल में
बच्चे की भर्ती के लिए
या नौकरी के लिए इन्टरव्यू की लाइन में
आदमी होने की हताशा ढोते हुए
बाढ़, अकाल, सूखा, भूकम्प,
रेल या हवाई दुर्घटना में
मरे आहत लोगों का दुखद समाचार सुनकर
मरी हुई संवेदना ओढ़े हुए
कितनी ही बार ऊब और घुटन की
मरत्व-वेदना लिए
चलता हूँ फुटपाथ पर
सफर करता हू बस, ट्राम, रिक्शा, मेट्रो-रेल में
जीने के लिए लग जाता हू
या लगा दिया जाता हू
दूध, राशन, तेल, भर्ती,
या इन्टरव्यू की लाइन में
इसीलिए अब आत्म-सवेदना को
सहेज कर बचाता हू
जिससे मै स्वयं को सवेदनमुक्त कर
जीने का क्रम सजो सकूं।

कलकत्ता, 21 फरवरी, 1990

स्वप्न–गगा

मेरे मन में बहती है
स्वप्न – गंगा
महत्त्वाकांक्षाओं के ऊंचे शिखरों,
हरी भरी आशाओं की घाटियों,
नये–नये कोणों और परिधियों के बीच
अपना रास्ता बदलती
चलती है अनन्त पारावार की ओर
जीवन–सत्य की खोज करती
नूतन–कथा कहती है
मेरे मन में स्वप्न गंगा बहती है।

जिजीविषा के सघर्ष–उद्वेग लिए अन्तर्वेदना की लहरे
उठती गिरती
मन के तट से टकराती हैं
अनगिन विचार–तटबध अवगाहित करती
उच्छ्वल बाहों के विस्तृत आलिगन में बाध
मुझे अवगाहित करती है
अजस्त्र–सरस–भाव से
मेरी पीड़ा सहती है
मेरे मन में स्वप्न–गगा बहती है।

उसे मैंने सहेजा है
अन्तस् का सम्पूर्ण ममत्व
और आस्था दी है
उसे अपने सारे सुख–दुख
और हृदय की समूची व्यथा दी है
वह कभी सूखेगी नहीं
वह हमेशा बहती रहेगी
निर्बाधगतिक इसी तरह अनन्त काल तक आस्था बनकर
निरन्तर बहती रहेगी
सदियों से मनुष्य के उद्भव और विपर्यय की कथा कहती है
मेरे मन में स्वप्न गगा बहती है।

कलकत्ता, 22 फरवरी, 1990

किरण–जाल

प्रात ने फैलाया
सोनाली–किरणों का जाल
और बटोर लिए उसमें
असख्य स्वप्न–फूल।
प्रात ने फैलाया
किरणों का जाल
और अस्तित्व–जनरव में डूब गए
नदी–दुकूल।
प्रात ने फैलाया
किरणों का जाल
बौराए अमराई–कुज मे
मधुसिक्त–स्वर मे कोयल बोली।
महके बाग बगीचे
महकी डाली डाली
नवकिसलय आभामय वनप्रातर
बासन्ती बयार बही आनन्दमगन
चूम लिए कलियों के भाल
प्रात ने फैलाया सोनाली किरणों का जाल।

कलकत्ता, 24 फरवरी, 1990

खालीपन

बहुत सा भरा भरा, खालीपन है
बहुत सा खाली भी भरापन है
बहुत सा
बहुत सा समय गतिमय है
बहुत सा जीवन ज्योतिर्मय है
बहुत सा
बहुत सारा झूठ भी सत्य है
बहुत सारा सत्य भी असत्य है
बहुत सा
बहुत सा अपनापन परायापन है
बहुत सा भरापुरा आधा–अधूरापन है
बहुत सा
बहुत सा बहुरंग भी बदरंग है
बहुत सा बदरंग भी अनुरंग है
बहुत सा
बहुत सा अभिसार मन की हार है
बहुत सा अभिसार मन पर भार है
बहुत सा
बहुत सा भरा भरा, खालीपन है
बहुत सा उजाला भी अंधियारापन है।

ालदा, पं. बंगाल
7 फरवरी, 1990

अतीत–संदर्भ

जिन संदर्भों में अतीत का
उच्छिष्ट कसैलापन
बार–बार
गले के नीचे नहीं उतरता
आँखों में उसका तीखापन घुमड़ता है
और उस घुमड़न में
एक छोर से दूसरे छोर तक
धूमिल होता जाता है
सबंधों का आकाश
मैं अपनी आखें बचाता हूं
तत्संदर्भाहत–हृदय से
फिर भी देखता हू
कि पूरी तरह वे नहीं हुए आहत
यह तो मैं हूं
जो बार–बार आत्म–छलना से छला गया
और आत्मीय सदर्भ भी
मुझसे टूट कर अपनी राह चला गया
शायद नए सदर्भ की खोज करने
शायद नए सुख–छन्द–विधान के ताने बाने बुनने
शायद नव–प्रवाह मे तैरने...
ऐसे में कोई देखे तो सही
आखो का समुद्र कितना विस्तृत हो जाता है
और उसमें भावनाओं का ज्वार उठता गिरता
समूचा अस्तित्व डूबता, उतराता, डुबकियां लगाता है।
हारे थके मन से
असमर्थता के रेत–तट पर
समय–असमय का ज्वार–भाटा देखता
अतीत का मौन–संवेदन आखों के आकाश में
उभर कर किसी और आकाश–क्षितिज की खोज में
मछुआरे की नाव की तरह गहरे में सरक जाता है
किसी अजानी लहर के साथ कहीं और किसी दिशा की
अपनत्त्व–आखेट के लिए।

सिलीगुड़ी (प. बगाल)
28 फरवरी, 1990

सूर्योवाच

मेरा सूर्य कहता है–
मेरी तरह तुम भी चमको
सबेरे की जरतारी स्वर्णाभ–किरण बन
कई कई रंगों में निखरो जैसे फूल फूलते हैं
बिना किसी के कहे सुने
चुप–चाप अपने वृन्त पर
उल्लासमय–आभा से उदीप्त
दूसरों को
अपने सौन्दर्य–जाल में बांध लेते हैं
उसी तरह तुम भी बाधों–बिंधो
अन्तर के उमगते–भाव से
सब में बाटो आनन्द–स्फुरण
मेरा सूर्य मुझसे कहता है–
मेरी तरह चमको
सबेरे की जरतानी स्वर्णाभ–किरण बन।

अन्तरिक्ष के आर–पार
नगर–सिवान को जगाओ
अपनी प्रणय–प्रभा से सर्जित करो
प्रेम–सत्ता का साम्राज्य
और इससे बड़ा काम कुछ भी नहीं होता है
जो दूसरों के लिए अपने को खोता है।
जो सिर्फ लेना जानते है
धरती, समुद्र, नदियों, झरनों,
पहाड़ों, घाटियों, फूलों, फलों से
पर बदले में कुछ नहीं देते
ऐसों को भी प्रकाश करो अर्पण
मेरा सूर्य कहता है– मेरी तरह चमको
सबेरे की जरतारी स्वर्णाभ किरण बन।

कर्सियांग (प. बंगाल)
1 मार्च, 1990

शब्दहीन–चुप्पी

एक शब्दहीन चुप्पी
अपने साथ लाती है
अभेद्य अन्धकार
मुमूर्षा, सिहरन, सताप दुर्निवार
कसकती स्मृतियों की इन्द्रधनुषी छलना
खुली हुई आखों के आर–पार
छले हुए दृश्य–बिन्दु
कई कई कोणों में बटा आकाश
झुठलाया हुआ सत्य, असत्य
आत्म–इतिहास .
अचानक ही
अवसाद के बीच
एक अमूर्त–चुप्पी घिर आती है
इस तरह अपने आपको
कसक की तीक्ष्ण आत्मवेदना की
शूली पर चढ़ते हुए समय–असमय
देखता हू जाने अजाने सत्य के आर पार
बार बार अपने आहत मन को
अपनत्व की थपकी देता हू
परन्तु अतीत का सत्य
मेरे चेहरे के आर–पार खडित–प्रतिबिंब बन जाता है
धुध में खोई स्मृतियों को
सामने खड़ा कर जाता है
उस समय मेरी आस्था मुझे स्वप्न–नींद से जगाती है
एक शब्दहीन चुप्पी मन के आर पार घिर जाती है।

कर्सियाग (प बगाल)
2 मार्च, 1990

मनःस्थितिया

स्वप्नहीन जिजीविषा
अस्तित्व का भयकर कोढ़ होती है
यह मैंने किताबों में पढ़ा है।

X X X

प्राण-रेत पर
स्नेह के कुछ बूद गिरे
मैंने अनुभव किया
बरसात के मेघ घिरे
परन्तु यह तो मेरा सपना था
जिस आनन्द-हरित-मोह से पागल था
क्षण भर में ही लगा
घिर गए हैं मेरे चारों ओर
प्रवचना के निविड अधेरे।

X X X

सान्ध्य-आकाश के दरवाजे पर
यूथ-भ्रष्ट बादल
दस्तक लगाता रहा
और लाज की विभावरी को
अंधेरा अपने बहुपाश में भींचे
पश्चिम रगमंच पर
अभिसार-नाटक रचाता रहा।

कलकत्ता, 7 मार्च, 1990

भविष्य-सभाव्य

सभाव्य-भविष्य के लिए
वर्तमान का 'क्रूसीफाई' होना
अनिवार्य है।
अतीत जितना ही सबल और
सार्थक होता है
उतना ही वर्तमान के कंधे पर
बैठा भविष्य स्वप्न-सर्जक होता है।
जितना ही निरर्थक
और कमजोर वर्तमान होता है
उतना ही भविष्य अपने को
हाराकीरी की स्थिति भोगने
और लावारिश जीवन जीने के लिए
विवश होता है।
ऐसे में भविष्य अंधेरे
और उजाले के बीच की
लक्ष्मण-रेखा बनता है
जिसके उल्लघन पर प्रवचना और छलना अनिवार्य है

कलकत्ता, 8 मार्च, 1990

हाराकीरी-जापानी शब्द, आत्मघात के अर्थ में प्रयुक्त

शहर – एक खबर

शहर खबरें पैदा करता है रोज-बरोज
और उन खबरों का गला घोंट देता है
फिर उन पर बहस करता है, गली, हाट के बीच
नुक्कड़ों पर या छोटे-बड़े रेस्तरा में,
ऑफिसों में जहां
खबरों पर बातें अधिक होती है
खबरों के बेसिलसिलेवार काफिले
नगर के एक छोर से दूसरे छोर तक
तेजी के साथ दौड़ते हैं। अखबारों की
कबन्धमान खबरों के सिर पर चढ़कर
स्कूलों में बच्चे अपना पाठ याद करते हुए
खबरों के जदुअई ससार में खो जाते हैं
खबरों को पढ़कर
मध्यवित्त चाय की चुस्कियों में
खबरें जीता है और इत्मीनान से
झोला और अभावग्रस्तता लिए
बाजार की ओर बढ़ जाता है। इसी तरह
रोज-बरोज नई खबरों का जाल बुनता है
सवाद-बुनकर-सवाददाता। सवाद देता है
और 'वाद' जीता है। यह शहर सबेरा होते ही
खबरों के जाम पीता भागता है, शहर दर शहर, सिवान से शहर,
शहर से संसद की ओर,
नगर-सीमान्त के ओर छोर
शहर खबरें पैदा करता रोज-बरोज
रोज-बरोज अब होती है
समाचारमय भोर।

कलकत्ता, 9 मार्च, 1990

फागुनी–भोर

फागुनी भोर आई
फागुनी भोर आई
अपने साथ
स्मृतियों का बहुरंगी गुलाल लाई
वन में टेसू फूले
क्यारियों में कलियों के मन खिले
आंगन के आर पार
नीम की टहनियों पर
नव–पल्लव,
मन्द–मन्द हवा में हिले
बाग में कोयल ने मीठी तान छेड़ी –
अमराई बौराई। अमराई बौराई।
फागुनी भोर आई।

सूरज की किरणों ने
आरक्त हाथों में लिए फैलाया
सम्मोहन–जाल
धरती का कण कण
रस–राग–अनुराग में हुआ लाल
चौपाल में
मृदग मजीरे बजे
चौताल के स्वर में
नाच उठे नर–नारी
रग बिरगे वेष में सजे
खेलते रगों की होली
जैसे स्वर्ग की किन्नरिया
धरती पर उतर आई
अपने साथ रग–आनन्द–कलश भर लाई
फागुनी भोर आई।

कलकत्ता, 10 मार्च, 1990

मां

मां ही झेलती है
संतान के दुःख, सुख, आसू, हसी
संघर्ष और उदासी
मां ही झेलती है
जब संतान कर्महीन, नकारा हो जाती है
असफलताओं की कटी हुई फसल-वाले खेत में
अपमान के दाने चुनती है
और जब भाग्य
उसकी वर्तमान असहाय स्थितियों से
कुशल खिलाड़ी की तरह खेलती है
तब मां अपनी संतान को सफल होने का आशीष देती है।

जब संतान स्वेच्छाचारी हो जाती है
कहीं हिंसा के बबूल
कहीं युद्ध के बारूद-वृक्ष लगाती है
कहीं मनुष्य को मनुष्य के विरूद्ध
जानलेवा संघर्ष में शामिल करती है
कहीं अपने पावों के नीचे
दूसरों की अस्मिता को पददलित करती है
और जब दुनिया ऐसी सतान को
अवहेलना, घृणा और यत्रणा की आग में ठेलती है
तब मा ही ऐसी है
जो उस समय भी
अपने आचल में लिए
करूणा, दया, प्यार और असीमित ममत्व
सतान को देती है अपनत्व
अच्छाइयों के साथ उसकी कमजोरी को भी
उम्र दर उम्र झेलती है।

कलकत्ता, 12 मार्च, 1990

बसन्त–वर्षा–गीत

ताल–ताल
नाचे जल मछली
भर आए हैं
ताल तलैया।

डाल डाल पर
कूजे कोयल
हवा बसन्ती के तालों पर
वन उपवन में
नाचें कलिया
प्राणभुवन में
भाव–चिरैया ।

बूंदे गिरती
धरती हंसती
भीगे छप्पर
छान मड़ैया।

मेह बरसता
मेघ गरजता
खेलें बच्चे
ताता थैया
ताता थैया।

कलकत्ता, 13 मार्च, 1990

शब्दार्थ

शब्द मिले
कुछ अपने
कुछ पराए लगे
फिर भी जब मिले
अपनत्व की गांठ बाध लिए
मेरी अभिव्यक्ति-जिजीविषा
बहिर्गामी हो चली
और मैंने अपने जीवन के अर्थ को
नए संदर्भो में अनुभव किया
जो कुछ बचा था अनुभव जैसा
उसे ही तो शब्दों की थाल भर
उन्हें अर्पित किया
जो चाहते है शब्दों के अर्थ
तरह-तरह के संदर्भ
लाल, पीले, मटमैले, काले,
उजले, सूखे, गीले, रूपहले
कितने ही ऋृजु कोणों से बने
अस्तित्व-आकाश में
उड़ने के लिए शब्द-आतुर
अर्थ-अभिव्यजनाए जो भी दूसरों से लिए
उन्हें ही तो मैंने दिए।

कलकत्ता, 22 मार्च, 1990.

नीली – विराटता

सागर के किनारे जब देखता हूं
नीली विराटता
दृष्टि से दृष्टान्त तक
ओर-छोर
अगाध जलराशि की
तरगित – विह्वलता
सोचता हूं
क्यों नही बन सका मैं समुद्र
उसकी विराटता।

पर्वत शिखर पर जाता हूं
तो हिममडित निस्तब्धता
नीली घाटियों
ऊचे देवदारूओं के बीच चलते हुए
गहन-मौन के ताने बाने बुनते
पर्वतीय-चेतना में आबद्ध सोचता हूं
मै शिखर क्यों नही बन सका।

क्यों नही तोड़ सका बधे हुए
जीवन की जड़ता
क्यों नहीं तोड़ सका प्रवचना
और उसके इर्द गिर्द छाए
कुहासा की एकरसता
इसी सोच में कई बार आहत हुआ है मन
उच्छल-चचल-प्रवाह-गति को
सवारती सजाती नदियों के तट पर बैठा
देखा किया
कितना कुछ बहता है अबाधगतिक
और मैं उस प्रवाह को ही देखता रहा
बन नहीं सका समय-नदी की गतिमयता।

कलकत्ता-दिल्ली
राजधानी एक्सप्रेस
30 मार्च, 1990

मन–महानगर

कई नगर बसाए हमने
अपने अन्दर बाहर
छोटे बड़े सपनों के भित्ति-चित्र दीवालों पर उकेरे
बनवाए आरामदायक चौपाल
रसोईघर, दीवानेयाम–आलीशान
चौखट पर सजाए राजकीय –
मर्यादित कलाकृतियां
संगमरमरी प्रतिमाएं –
विभिन्न मुद्राओं, भंगिमाओं में आकर्षित करती
कितनी खूबी से हमने ताने ऐश्वर्य के वितान
पेड़ पौधे उपवन लगवाए सुन्दर बन लताएं, झाड़ियां,
शंख चूड़ामणि, देवदारू, मौलश्री
और इसी तरह कई तरह के
पौधे सुरम्य वाटिका में सजाए
कई नगर बनाए हमने
अपने अन्दर बाहर
और फिर बसाए उनमें
आकांक्षाओं के सजे सपने
और हम नगरवासी कहलाए
नगर में रहते हुए
महानगरीय यंत्रणा से घायल सपने
रात की नीरवता में भयावने नर–कंकाल की तरह
खड़े हो जाते है आंखों के सामने
फुटपाथ पर आवारा कुत्ता पूंछ हिलाता भौंकता है
अट्टालिकाओं से प्रतिध्वनित होती है उसकी आवाज
आवाजों के काफिले चलते है
एक सड़क से दूसरी सड़क की ओर
और राजपथ दिन में ऊंघता हुआ
कई कई नगर–निर्माण के सपने देखता हुआ जग उठता है
आंखे मिचमिचाता
कई नगर बसाए
हमने अपने अन्दर बाहर।

1990

लहर की पीड़ा

लहर की पीड़ा
नदी की गति से कम नहीं होती
प्रतिक्षण तरंगित
हिल्लोलित तट की ओर बढ़ती
तट से टकराती
आहत होती
सिर धुनती
पछाड़ें खाती, फिर भी
हृदय में नये भाव-आलोड़न भरती
मचलती, घुमड़ती, तूफान सर्जित करती
तट से परास्त होती
तटिनी को कंधे पर ढोती
आत्म-वेदना की झोली में
अनगिन आघात-प्रतिघात लिए
निरन्तर लरजती चलती
नदी की पीड़ा को
आत्मसात करती
हमें नया संदेशा देती-
कि प्रवाह बनना है
तो पहले सम्पूर्ण समर्पण से
मन की गांठे खोल, आत्मभाव-छन्द लिए
लहर बनना है
तब उस महासिन्धु के द्वार तक
प्रवाह-आवेग के साथ बढ़ना है
मिलना है
उस असीमित विराटता से
समर्पण -- भाषागत
नये नये शब्द-भाव-अर्थ गढ़ना है।

नई दिल्ली, 2 अप्रैल, 1990

मन–महानगर

कई नगर बसाए हमने
अपने अन्दर बाहर
छोटे बड़े सपनों के भित्ति–चित्र दीवालों पर उकेरे
बनवाए आरामदायक चौपाल
रसोईघर, दीवानेयाम–आलीशान
चौखट पर सजाए राजकीय –
मर्यादित कलाकृतियां
संगमरमरी प्रतिमाएं –
विभिन्न मुद्राओं, भंगिमाओं में आकर्षित करती
कितनी खूबी से हमने ताने ऐश्वर्य के वितान
पेड़ पौधे उपवन लगवाए सुन्दर बन लताएं, झाड़ियां,
शंख चूड़ामणि, देवदारू, मौलश्री
और इसी तरह कई तरह के
पौधे सुरम्य वाटिका में सजाए
कई नगर बनाए हमने
अपने अन्दर बाहर
और फिर बसाए उनमें
आकांक्षाओं के सजे सपने
और हम नगरवासी कहलाए
नगर में रहते हुए
महानगरीय यंत्रणा से घायल सपने
रात की नीरवता में भयावने नर–कंकाल की तरह
खड़े हो जाते हैं आखों के सामने
फुटपाथ पर आवारा कुत्ता पूछ हिलाता भौंकता है
अट्टालिकाओं से प्रतिध्वनित होती है उसकी आवाज
आवाजों के काफिले चलते हैं
एक सड़क से दूसरी सड़क की ओर
और राजपथ दिन में ऊंघता हुआ
कई कई नगर–निर्माण के सपने देखता हुआ जग उठता है
आंखे मिचमिचाता
कई नगर बसाए
हमने अपने अन्दर बाहर।

नई दिल्ली, 3 अप्रैल, 1990

कविता एक समुद्र

कविता अगाध समुद की तरह
अनन्तकाल से लहराती है
ऊपर नीचे तरंगित मनुष्य के उत्थान-पतन की गाथा क
दूर-दूर फैला, कहीं नीला, कहीं मटमैला
लहरों की हथेलियों पर विश्व-काव्य
लिखता है काल-चेतना का समुद्र
नये नये शिल्पविधान गढ़ता है
और जो कुछ लिख जाता है
उसे ही बालू की नई नई तहों में,
गुलाबी, पीली, उजली, मटमैली, काली
रेत की किताब में प्रस्तुत करता
समय-छलना का अपूर्ण काव्य-नाटक
दूर-दूर तक उर्मियों के हृदय-पत्रों पर
कितना कुछ लिखता है गोपन प्रेम-कथा
गाता, गुनगुनाता, रोता
चीखता, चिल्लाता, दिशाओं से दिशाओं तक
देश-देशान्तर
अन्तर-व्यथा की अनन्त-कथा कहता है
कविता का अगाध समुद्र
आदि काल से
अनगिन संदर्भों में
प्रकृति का प्रेम-संगोपन रूपायित करता है
और वह इसी तरह लहराता रहेगा
युगों तक
हम रहें, न रहें
फिर भी वह अपनी भावाभिव्यक्ति के
नये नये छन्द, गीत रचना रहेगा
गाता रहेगा जीवन के उत्थान-पतन की गाथा
जीवन-नव-अस्तित्व सर्जित करता रहेगा।

नई दिल्ली, 4 अप्रैल, 1990

मन के भीतर एक वृक्ष

मेरे अन्दर एक वृक्ष खड़ा है
हर मौसम का स्पर्श
उसे नये नये आयाम देते हैं
चाहे मौसम कैसे भी हों
पतझर और बसन्त की छलना
झंझावात या ठिठुरती हवाओं के बीच
वर्षा के दिनों में
वह सर्वांग भीगता
जीवन के आघातों से आकंठ भरा है
मेरे अन्दर एक वृक्ष खड़ा है।

कितने ही जीवन के
कितने सारे बनते बिगड़ते
स्वप्न-संदर्भों की जड़ें
फैल गई हैं भीतर ही भीतर
और अब उन्हीं ने जमा लिए
अपने विस्तार
एक जड़ के कटने पर
बस इतना ही होता है कि
वृक्ष आकाश से चुपचाप कहता है–
यह क्या हो गया
और दूसरी सुबह की पहली किरण के साथ ही
नई कोंपले फूटती हैं
नई जड़े जन्म लेती हैं
अन्दर ही अन्दर
कभी कभी लगता है
मेरे अन्दर जो वृक्ष हरा भरा है
वह मुझसे कई गुना बड़ा है
मेरे अन्दर एक वृक्ष खड़ा है।

ई दिल्ली, 5 अप्रैल, 1990

सीढ़िया चढ़ता सूर्य

सीढ़ियां दर सीढिया चढ़ता सूर्य
बढ़ता आकाश में
सीढ़ियां दर सीढ़ियां
देता अपना प्रकाश
जगती जनों, समूची सृष्टि को
पीढ़िया दर पीढ़िया।

सीढ़ियां दर सीढ़िया
उतरता सूर्य
देता अन्धकार
दिशाओं को
और एक निष्कर्ष देता
कि सीढ़िया दर सीढ़िया चढ़ना ही
प्रकाश है
और सीढ़ियों दर सीढ़ियां उतरना ही
अन्धकार
जहा हम अपना चेहरा
तभी देख सकते हैं
जब प्रकाश का
एक कृत्रिम ससाधन हो
अथवा हममें यह क्षमता हो
कि अधकार में भी
चेहरे देखने का क्रम सजो सकें
पीढ़िया दर पीढ़िया।

नई दिल्ली, [redacted] अप्रैल, 1990

गोपन -- हंसी

उस हसी का क्या करूं
जो सुबह की पहली किरण बनकर आती है
खुले आकुल मन जगाती है
एक स्वप्न-ससार से
दूसरे स्वप्न-ससार में बाह-बद्ध खींच ले जाती है
फिर मुझसे कहती है -- जागो, जागो, जागो
समय की ताल पर नाचो
विवशता के कुहासे के अंधेरे से निकलो
चलो, चलो
मिलाकर कदम से कदम। बाध लो
आकाश को मुट्ठियों में
स्वप्न-जीवी मत बनो
बस चलो। चलो। चलो।
आह! कैसी सप्रीति-कर्तव्य की डोरी लिए
वह आती है
और सहज ही बांधती है
मन, प्राण, तन
खुले खिले मन
आकर जगाती है
उस हंसी का क्या करूं
जो सुबह की पहली किरण बन
आकाश के नीले निकष पर
बाण साधे आती है
रोज-बरोज घायल हृदय को
बेंध जाती, और जगा जाती है नये नये सपने
सचमुच उस हंसी का क्या करूं।

नई दिल्ली, 9 अप्रैल, 1990

ढहते स्वप्न-सेतु

जो नदी
अपने बहाव से कट जाती है
वह नहीं रह पाती प्रवाहमय
हो जाती है नद।
जो आदमी अपने सपने
और महत्वकांक्षाओं से छंट जाता है
उसके भविष्य पर
पड़ता है समय का पाला
और उसकी अस्मिता
हो जाती है
टूटा हुआ मकड़ी का जाला।
सपने तभी सेतु-बंध बनते हैं
जब महत्वकाक्षाओं की नींव
मजबूत होती है।

कलकत्ता, 11 अप्रैल, 1990

बातों से बातें

बातों पर बातें उठती हैं
बातों से बातें बनती हैं
बातों बातों में
बातें बिगड़ती हैं
जो बातें जानी जाती हैं
वही तो कही जाती हैं
जो जानी नहीं जाती
वे अकथ, सगोपन बन जाती हैं
फिर भी उन पर बाते होती हैं
बात बात में बात बनती है
बात से बात कटती है
जो बात बनाए न बने
वह बात बात में बिगड़ती है
विनार्थ बातों का क्या
वे कभी भी
किसी भी कोण से शुरू होकर
कहीं भी
किसी भी कोण पर समाप्त हो जाती
बातो पर बातें उठती है
बात की बात में
युद्ध या शान्ति
प्रेम या घृणा की सृष्टि होती है
बात ही हमें एक बात सिखाती है–
बात बनने में ही
हमारी अस्मिता की थाती है।

कलकत्ता, 13 अप्रैल, 1990

वर्ष पर वर्ष बीत जाते

वर्ष पर वर्ष
यूं ही
हर वर्ष की तरह
प्रति वर्ष बीत जाते हैं
वर्ष की समाप्ति पर
मैं सोचता हूं
कैसे और कितनी जल्दी
यह वर्ष भी बीत गया
और फिर नववर्ष के प्रारंभ में
वर्ष भर के लिए
नए नए कार्यक्रम बनाता हूं
सपनों के नए आकार सजाता हूं
और इसी तरह
कुछ आधे
कुछ अधूरे
सपने बनते हैं
या टूटते हैं
मेरी बंधी मुट्ठियों से
वर्ष दर वर्ष
एक एक दिन
बालू की तरह झरझर
यूं ही छूट जाता है
और मैं
खड़ा रहता हूं
वर्षान्त के कगार पर
देखता हुआ
वर्ष के आने जाने के क्रम-व्यतिक्रम
और प्रतिवर्ष संजोता रहता हूं
सपने सजाने का भ्रम।

कलकत्ता, 12 अप्रैल, 1990

धरती का दान

इतना कुछ धरती ने दिया
अन्न, फल फूल, खनिज, द्रव्य
और तरह तरह के भोज्य-पदार्थ
इतने दिनों से धरती
ये सब देती आ रही है
धन-सपदा-अर्थ
फिर भी
आदमी भूखा ही रहा
उसकी भूख इतनी बलवती है
कि वह दूसरों का हक भी
छीन कर
खाता रहा
और बदले में अपमान
तिरस्कार, घृणा बाटता रहा
उसने दूसरों का हक ग्रहण किया
जबकि धरती ने इतना कुछ दिया।

आदमी अंधकार
अपने चारों ओर लपेटे रखा
और जो कुछ भी
धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म की फसल
अपने अस्तित्व की धरती पर बोया
उसे काटते समय
अन्तत
धरती की गोद में समा गया
जीवन-पर्यन्त जो कुछ भी उसने जिया
वह सब धरती ने ही तो वापस लिया।

कलकत्ता, 16 अप्रैल, 1990

देश प्रेम और रोटी

देश–प्रेम
आजादी, स्वाधीनता
हमारे लिए गर्म रोटी की तरह है।
प्रेम, ज्ञान
अस्मिता की पहचान
रोटी के बिना व्यर्थ हो जाती है
क्योंकि
पेट की राजनीति
देश–प्रेम, सस्कृति–धर्म से
अधिक सशक्त होती है।

कलकत्ता, 17 अप्रैल, 1990

आजादी–तीनचित्र

आजादी में भी
मैंने गुलामी का असर देखा
और अनुभव किया
कि आज किसी को भी
गुलाम कह सकता हूँ।

आजादी में भी
मैंने स्वतत्रता की दीवारों पर
रक्त–छाप देखे
इसलिए कह सकता हूँ
कि जो स्वतंत्रता की हत्या करते है
वही असली हत्यारें है
उन्हें पागल भी कह सकता हूँ।

आजादी में भी
मैंने अपने को
अंधेरे के बीच महसूस किया
इसलिए यह विचार कर सकता हूँ
कि अंधेरा भी
उसी तरह उजाले के लिए
जरूरी है
जिस तरह आजादी के लिए परतंत्रता
और आजादी में भी परतत्रता का अहसास किया जा सकता है।

कलकत्ता, 18 अप्रैल, 1990

रोटी की ताकत

बाउल इकतारे पर गा रहा था–
"अहकार से दस गुना ताकत क्रोध में होती है
कामान्धता से दस गुना ताकत मोह में है
मोह ही प्रेम की पहली कसौटी है
अहकार, क्रोध,
कामान्धता, मोह, प्रेम से
दस गुना ताकत अभाव-ग्रस्तता में है
और इन सबसे
दस गुना ताकत रोटी में होती है।"

कलकत्ता, 19 अप्रैल,

समय की चोट

समय को मरहम की तरह
हम अपने वर्तमान के घावों पर
लगाते हैं
और भविष्य की देहलीज लाघते हुए
भूल जाते हैं
उस मरहम का नाम क्या था।

कलकत्ता, 20 अप्रैल, 1990

अंधेरे की मैल

रात इसीलिए होती है
कि दिन का उजाला आए
और दिलों पर लगी मैल

कलकत्ता, 21 अप्रैल, 1990

आत्म-मथन

सब कुछ जायज है
इस धरती पर
प्रेम, युद्ध, अकाल, विनाश
शान्ति, आजादी....
सब कुछ जायज है
इस धरती पर
अन्याय, अत्याचार
नृशसता की गहराई में डूबे चेहरे
मुखौष पर राम, अल्लाह, क्राइस्ट के
अमृत – वाक्य सुनहरे –
"घृणा और पाप करना
शैतान की पूजा करना है।"
पर आज नफरत, पाप और पुण्य की परिभाषा बताना
अपने आप को नंगा करना है।

कलकत्ता 23 अप्रैल, 1990

लोभलाभी

एक दिन समुद्र-तट पर बैठा पूछा था मैंने –
क्या सब कुछ देना ही तुम्हारी नियति है
या तुम्हारी यही सहज गति है।
सागर बोला – हाँ देना ही
मेरी नियति है
प्रकृति देती सब कुछ और स्वयं को
शून्य करती जाती है
मनुष्य सब कुछ लेता ही जाता है
इसीलिए धरती पर इतनी दुर्गति है।

कलकत्ता, 24 अप्रैल, 1990

रोटी की ताकत

बाउल इकतारे पर गा रहा था–
"अहंकार से दस गुना ताकत क्रोध में होती है
कामान्धता से दस गुना ताकत मोह में है
मोह ही प्रेम की पहली कसौटी है
अहकार, क्रोध,
कामान्धता, मोह, प्रेम से
दस गुना ताकत अभाव–ग्रस्तता में है
और इन सबसे
दस गुना ताकत रोटी में होती है।"

कलकत्ता, 19 अप्रैल,

समय की चोट

समय को मरहम की तरह
हम अपने वर्तमान के घावों पर
लगाते हैं
और भविष्य की देहलीज लाघते हुए
भूल जाते है
उस मरहम का नाम क्या था।

कलकत्ता, 20 अप्रैल, 1990

अंधेरे की मैल

रात इसीलिए होती है
कि दिन का उजाला आए
और दिलों पर लगी अंधेरे की मैल धोए।

कलकत्ता, 21 अप्रैल, 1990

आत्म-मंथन

सब कुछ जायज है
इस धरती पर
प्रेम, युद्ध, अकाल, विनाश
शान्ति, आजादी..
सब कुछ जायज है
इस धरती पर
अन्याय, अत्याचार
नृशसता की गहराई में डूबे चेहरे
मुखौष पर राम, अल्लाह, क्राइस्ट के
अमृत – वाक्य सुनहरे –
"घृणा और पाप करना
शैतान की पूजा करना है।"
पर आज नफरत, पाप और पुण्य की परिभाषा बताना
अपने आप को नगा करना है।

कलकत्ता 23 अप्रैल, 1990

लोभलाभी

एक दिन समुद्र-तट पर बैठा पूछा था मैंने –
क्या सब कुछ देना ही तुम्हारी नियति है
या तुम्हारी यही सहज गति है।
सागर बोला – हाँ देना ही
मेरी नियति है
प्रकृति देती सब कुछ और स्वयं को
शून्य करती जाती है
मनुष्य सब कुछ लेता ही जाता है
इसीलिए धरती पर इतनी दुर्गति है।

कलकत्ता, 24 अप्रैल, 1990

उजड़े जगल की ओर

मन के उजड़े जंगल में
गीतों का पंछी दुखते मन
कह जाता है –
हरियाली मन की बनी रहे
उससे ही
जीवन का सुख–माया–वैभव
छाया रहता है
अन्यथा निरा उड़ते रहना,
क्षितिजों की सूनी घाटी में
कुछ पाने, खोने की छलना
भटकाती है
शून्यों में चलना पछताना
मुट्ठी में भरना रेत
क्या होता जब
चिड़िया चुग गई होती खेत
वीराने छोरों में उड़ता रहता मन
सब कुछ सह जाता है
मन के उजड़े जगल मे
गीतों का पछी दुखते मन
रो जाता है
फिर नई दिशाओं मे उड़ता
उजड़े जगल को छोड़
किसी दूजे जगल की ओर नए नीडों में
वह उड़ जाता है।

कलकत्ता, 25 अप्रैल, 1990

अतीत – संदर्भ

अतीत के संदर्भों का
उच्छिष्ट कसैलापन
बार-बार मेरे गले में
हड्डी की तरह चिपक जाता है
आंखों में भर जाता है
तीखे दर्द का बेपर्द-अहसास
कई-कई बार
अतीत के संदर्भों का
उच्छिष्ट कसैलापन
मेरी सांसों में
समाने लगता है
मन के मौसमी-गाँव में चारों ओर
वीरानी छा जाती है
ऐसे में नये-नये संदर्भों से जुड़ना
अच्छा लगता है
इसलिए भी कि जन से नाता जुड़ने का अवसर
सपनों के गलियारे में ही
अपनत्व के संकेत-चिह्न बना जाता है
और जिनसे टूटना होता है, वे दूरस्थ
नये वसन्त, नये फूल, नये मौसम
नयी हरियाली की तरह
अपने अस्तित्व की सुन्दरता बनते हैं –
जब अतीत से संदर्भहीन होकर
वर्तमान में जीने के संघर्ष-सेतु बनते हैं।

कलकत्ता, 26 अप्रैल, 1990

मुक्त कर दो अन्तर-मन

मुक्त कर दो
अन्तरमन
मुक्त कर दो
हृदय-वेदना के क्रम
मुक्त कर दो
बन्धन, छल, भ्रम
मुक्त कर दो
सब तरफ से
अपने को खोकर भी
औरों को देना है अपनत्व
धरती की उष्मा-गंध,
स्नेह-आस्था, मर्यादित नवछंद।

कलकत्ता, 27 अप्रैल, 1990

संप्रीति – गीत

प्रीतिका बादल घिरता है
तो घिरने दो
घिर कर प्रीति बरसता है
तो बरसने दो
प्रीति-समुन्दर से जन्मा
आशा-नभ-सैलानी
पर्वत, घाटी
वन, जंगल में घूम रहा स्वच्छन्द विहग सा
प्यास जगाता अभिमानी
सुधियों के पावस बरसाता जाने ही कितनी आंखों में
वह तिरता है
तो तिरने दो
प्रीतिका बादल घिरता है
तो घिरने दो।

छोटे-छोटे रूप अनेकों
उसके नित परिवर्तित होते
किरण जाल में बंधे
प्राण पर
जाने कितने सपने ढोते
धवल, श्याम, रक्ताम्बर ओढ़े
भाव-क्षितिज के घर आंगन में
फिरता है तो फिरने दो
प्रीतिका बादल घिरता है
तो घिरने दो।

कलकत्ता, 28 अप्रैल, 1990

आओ फिर एक बार श्याम

श्याम
एक बार फिर आओ तुम
इस धरती पर।
नन्दगाँव, गोकुल, मथुरा, व्रज
यमुना के किनारे इस बार
रास-लीलाएं मत रचाना
जन्म लो तो किसी छोटे से गाँव में
गरीबी से फटेहाल सिवान में
जहां मौसम के परिवर्तन की सुषमा
दो मुट्ठी अनाज से तौली जाती है
और वसन्त-राग से सजी फूलों की औकात
नन्हें नन्हें नंगे निराश्रित निरूपाय बच्चों
और कांपती कमजोर काया लिए
वृद्धों के कुम्हलाए होठों पर
उभरता है तुम्हारा नाम
इसलिए कि तुम उन्हें दैन्य-कारा से
मुक्त कर खुशहाल बना सको।
उनके बीच
सुदामा की कथा-व्यथा आज भी साकार है
इसलिए तुम आओ
और इस बार दीनों के देवता कहलाओ।
श्याम
एक बार फिर तुम आओ
इस धरती पर महाभारत युद्ध-नियंता के रूप में
चुनाव में ससद के लिए उम्मीद्वार बन कर आओ
अपना नामाकन भरो
और अलौकिक ससदीय चमत्कार दिखाओ।

कलकत्ता, 30 अप्रैल, 1990

कंचनजंघा की भोर

कंचनजंघा से उतरती हुई
अवगुण्ठनमयी कंचन-काया –
सुहावनी भोर
कुहासे के झीने आवरण में लिपटी
रूमानियत से ह्रदय भरे
चली आ रही धीरे धीरे।
घाटियों में घूमते बादल सैलानी
पगडंडियों पर टहल रही शक्लें अजानी
ऊँचे देवदारू
स्वच्छन्द हवा में सरसराते, आहट करते
हरियाली का गीत गाते
मन्द-मन्द स्वर।
यह अनुरागमय भोर
ह्रदय को अपने मोहक जाल में बांधता
कोमल मर्म को
प्रेमाघात से व्याकुल करने वाला
माया-स्वप्न है
निविड निस्तब्धता में डूबे
कण-कण में व्याप्त
दार्जिलिंग के ओर छोर
कंचनजंघा से उतर रही
अवगुण्ठन में लिपटी कंचन-काया-भोर
प्रेम-रस से सराबोर।

दार्जीलिंग, 11 मई, 1990

अलविदा

ओ पर्वतीय बांकपन के बीच से
फूटती प्रात की सोनाली किरण
अलविदा
कंचनजंघा की मनोरम घाटियो
झरनो, तिस्ता की अजस्त्र-धारा
अलविदा
ओ दार्जिलिंग के सीधे सच्चे मेहनती गोर्खाली
लावण्य-सुषमा से सराबोर
अलविदा
जो दिया तुमने आत्मीयता से भरा स्नेह का दीपक
सदा जलता रहेगा स्मृति-पटल पर
जन्म-जन्मान्तर
स्नेह के सौगात का जो बीज तुमने बोया
बनेगा समभाव-वटवृक्ष
एकता के मनोरम फूल सुन्दर खिलेंगे
फिर-फिर खिलेंगे
मिलेंगे, फिर फिर मिलेगे।

दार्जिलिंग, 14 मई, 1990

त्रासदी

आज की यह त्रासदी कितनी बड़ी है
सूर्य भी असमर्थ है तमपुंज से बाहर निकलकर
मुंह दिखाने के लिए फैला रहा
आकाश में
अभिमन्युवत बाहें
चक्रव्यूही साजिशों के बीच
कुन्ती, गांधारी, द्रौपदी की आत्माएं
क्षितिज की दहलीज पर
व्याकुल खड़ी हैं
आज की ये त्रासदी कितनी बड़ी है।

जल रहे दिनमान कितने
आत्मदाही क्षणों को
सर्जित किया किसने ?
धराशायी हुए रण-बांकुड़े कितने
जले सपने
मरे इस देश के अभिमन्यु कितने।
एक बूढ़े ने बसाया आशियाना
लिख दिया दीवाल पर –
सद्भाव, निष्ठा,
सत्य ही ईश्वर
अहिंसा, सत्य, सुन्दर,
धर्म, मजहब, देश, भाषा
आदमी से बड़ा कोई नहीं ईश्वर
किन्तु हमने कर दिया छोटा सभी को
धर्म, मजहब, देश, भाषा
यहां तक, ईश्वर, खुदा को
मन्दिरों में,
मस्जिदों में जला डाला
जला डाला आशियाना
एक बूढ़े ने बसाया था जिसे,
टूटकर बिखरे सभी सिद्धान्त, सपने
उस दिवंगत की घड़ी टूटी पड़ी है
आज की ये त्रासदी कितनी बड़ी है।

कलकत्ता, 16 मई, 1990

अस्मिता के अश्वमेघ

ओ अजेय –
अस्मिता के अश्वमेघ
तुम कितनी दूर तक जाओगे
योजन दर योजन
दौड़ोगे
अथक, अपरिश्रान्त,
दीर्घ-पथगामी
कब तक
कब तक भला
अपनी गति
अपनी नियति
विजेता के हाथ सौंपते रहोगे
ओ अजेय
संभवत तुम जानते हो
समझते हो
काल-गति
राज्य-गति
संभवत तुम यह भी मानते हो
कि समय तुम से भी तीव्र गति से
दौड़ता है
इसलिए
जब विजेता –
अपने प्रबलम महत्वाकांक्षा की काठी
तुम्हारी पीठ पर
कसता है
तुम्हारे मुह में
लगाम पहनाता है
जिससे तुम समझ सको
तुम्हारा नियत्रक
तुम से बड़ा है
क्योंकि तुम अपने पैरों पर और वह
बैसाखियों पर खड़ा है।

तुम चाहे जितना भागो, दौड़ो
सरपट खटपट आगे और आगे भागते जाओ
परन्तु विजेता
हर समय तुम्हारे पावों में पिछाड़ी कसता है
तुम्हारी पीठ पर बैठ
तुम्हारे मुँह में,
लगाम बांध
चाबुक फटकारता है
कि तुम दौड़ो दूर-दूर तक दौड़ो
और विजेता के आकांक्षा-राज्य का विस्तार करो
दूर दूर तक
योजना दर योजन
जिससे विजेता का सुनाम हो
कि अश्वमेघ-यज्ञ में
अमुक अमुक दिशान्तर-
देशान्तर तक दौड़कर तुमने
राज्य का विस्तार किया
और यह कि तुमने विजेता के लिए अपनत्व का
बलिदान किया।

कलकत्ता, 18 मई, 1990

नदी – अस्तित्व

मै नदी हूं
गिरि–गुहा द्वार को तोड़कर
कन्दराओं, घाटियों,
उपत्यिकाओं के बीच प्रवाहित
स्वयं अपना रास्ता बनाती हूं
मै नदी हूं।

मैने पत्थरों को तोड़ा
अमराइयों,
हरे भरे जंगल, वन, उपवन को
हरा भरा बनाया
मै नदी हूं।

मै पर्वत–सुता हूं
झरनो का कल–कल–हास
घाटियो की असीम गहराई लिए
बहती हूं निरन्तर
इसलिए कि समुद्र मे मिलना है
और फिर उसे विराटता
गहराई, उच्छृंलता देना है,
मै नदी हू।

मै ऊपर से नीचे बहती हू
जीवन की अन्तर–कथा कहती
अपने आवेगों,
सवेगो को हृदय मे सयोजित करती
विश्व–जन की आत्मवेदना सहती हूं
मै नदी हू।

मैने शिखरों से जो
आत्मानंद–मौन–मंत्र सुना
अधेरे घने जगलो की

खामोशी का गीत सुना
मैंने शहर और सिवान की
क्षितिज रेखाओं में धूमिल पड़े
मनुष्य के उत्थान और पतन के इतिहास के
एकरसता का तार बुना
और फिर काल-वेदना सहती
देश, संस्कृति, सभ्यता के पुलिन-सेतु
सर्जित करती अपनी निरन्तरता में बहती हूं
मैं नदी हूं।

मैं तट बांधती
तट-बंध तोड़ती
अमराईयां, हरियाली बांटती। उन्हें जीती
और फिर उन्हें ही अपने में समाहित करती हूं
मैं नदी हूं।

मैं अतीत से वर्तमान में बहती हू
भविष्य के रेत-घर बनाती
आगे बढ़ती
यह संदेशा देती
कि बहना
और निरंतर बहना ही
जीवन-गति
सर्जित करना है
बहना है प्रवाह के लिए
मैं नदी हू।

कलकत्ता, 23 मई 1990

दृष्टव्य

आखे जब तक देख सकती है
देखती है
पर जो दिखना चाहिए
वह आंखों को दिखता है या नहीं कौन जाने
यदि आखों को वह सब न दिखता
तो सौहार्द-आदान-प्रदान का
विश्व व्यापी रिश्ता भी स्थापित न होता
और आखों को
शान्त आयामों वाली हरियाली न भाती
हम अपनी सीमित परिधियों में
अपनी आंखों के तूणीर पर
दृष्टव्य – प्रत्यचाएं चढ़ाए
नये नये दृश्यों की ओर
आकांक्षा के सर-संधान न करते
और न हीं यह कामना करते
कि आखें जहां तक
देख सकती है देखें
और जो देख नहीं पाते उन्हे भी देखें
इसलिए मृत्यु के बाद भी आंखे जीवित रहती है
कि हम और कुछ देख सकें।

कलकत्ता, 24 मई, 1990

होने का अहसास

यूं तो मैं कपड़े पहनता हूं
पैंट, बुशर्ट, कुर्ता, पायजामा, वास्कट, टोपी, कोट, टाई
और कभी कभी बेशकीमती सूट में अपने
शरीर को सजा कर परक्षुदर्शी बनता हू।
यूं तो यदा-कदा
स्विमिंग-कस्टयूम पहन समुद्र-जल
या नदी में जल-क्रीड़ाएं करता हू
यह मेरा बाह्य-आवरण है
उससे अपने शरीर को ढकता हूं
परन्तु जितना ही शरीर को
कपड़ों से सजाता हूं
उतना ही मेरे अन्दर के अहम्
सपनों के महल टूटते जाते हैं।
एक ध्वंसाकार-सत्य खड़ा हो जाता है
आखों के सामने
बिखरे हुए ध्वसावशेष
डरावने लगते है।
सोचता हूं कि आखिर
कपड़े शरीर पर चिपके है
सपने हृदय से
और चिन्ता मष्तिस्क से
तीनों मेरी अस्मिता का हाथ पकड़कर
चलते होते है भविष्य की पगडंडी पर
युगलबन्दी करते।

जिन सदर्भों में अतीत का
उच्छिष्ट कसैलापन अग्राह्य रहा
वही बार बार
जब जब मेरे गले में अटक जाता है—
हड्डी की तरह
आखों में तैरने लगता है आसू बन
एक बासी दर्द।

मैं कई बार
अपने गले में फंसी हुई हड्डी को महसूसता
आंखों में घिरे दर्द को सम्हालता रहा
और बचता बचाता रहा
तत्सदर्भाहत-संदर्भों से
बसन्त में जंगली फूलों को तोड़कर घर सजाता रहा
नये से नये
और पुराने से पुराने सबंधों को जोड़ता तोड़ता रहा
मैं आइने में
अपनी क्षुधार्थ आंखों का गहराया समुद्र
देखता हुआ कई कई बार सोचता रहा
क्या कोई उस अगाध में तैर सकता है
क्या कोई उसके किनारे बैठकर
उफनते घुमड़ते समुद्र के उद्‌वेलन, प्रकंपन का
अनुभव कर सकता है
परन्तु यह सब तभी संभव है
जब एकात्म-बोध जागे
जड़ता जड़ता को काटे
अनास्था का अंधकार भागे।

कलकत्ता, 28 मई, 1990

नदी बीच नाव चली

नदी बीच नाव चली
नाव चली
सपनों की नाव है
आशा की पतवारें
जीवन की नदी है
प्राण-सर्जना धारें
हवा बीच पाल उड़े
अन्धड़ तूफान जुड़े
ऐसे में समय हुआ छली
नदी बीच नाव चली
नाव चली ।

नैया हिचकोले ले
डगमग डगमग डोली
मंजिल-तट दूर हुआ
दूर हुए हमजोली
ऐसे में आंगन की याद खली
नदी बीच नाव चली
नाव चली।

चलते ही जाएंगे
बढ़ते ही जाएंगे
मुश्किल चाहे जितनी
मंजिल तो पाएंगे
समय बने फिर चाहे जितना छली
नदी बीच नाव चली
नाव चली।

कलकत्ता, 30 मई, 1990

समय – आशीष

समय उन्हें देता है आशीष
जो चलते हैं
अपने गन्तव्य पथ पर
जो सहते
अनगिन दुर्दिन–भार
सहते समय–असमय की मार
फिर भी जो आशा विश्वास से
अन्तस्–उच्छ्वास से
बढ़ते है आगे निरन्तर
हाथ में लेकर अपना शीश
समय उन्हें ही देता आशीष।

कलकत्ता, 31 मई, 1990

प्रच्छन्न – युद्ध

कुछ के कंधे चौड़े थे
कुछ के लम्बे या गोल
कुछ कबन्धहीन
ग्रीवाहीन भी थे
परन्तु
उन सबके साथ जयघोष था
और वे जयघोष के बीच
युद्ध लड़ने आए थे
उन्होंने कुछ तीर–तुणीर,
अस्त्र–शस्त्र भी जुटाए
प्रत्यचाए न मिलने पर
हाट से रस्सिया लूट लाए
परन्तु उससे क्या होने वाला
जब कि वे रस्सिया
उनके गले में
फासी के फन्दे बन गई
योद्धा... पर युद्ध

फिर कुछ और आए
नए-नए रण-वेशों में
नए-नए नारों और जयघोषों के साथ
परन्तु वे अवश थे
इस बात पर चिन्तित भी थे
कि युद्ध का प्रारम्भ कैसे किया जाए
असमय को समय से कैसे अलग किया जाए
वे इसी उहापोह में लौट गए वापस
अपने अपने पथ
रह गई दिशाएं मौन श्लथ
युद्ध नहीं हुआ।

पर युद्ध की विभीषिका बनी रही
न कोई निर्माण हुआ
और नहीं विनाश
क्योंकि कोई कुशल योद्धा मिला नहीं
और जो जयघोष करते रहे
वे भी अलग अलग दिशाओं में बटते गए
एक न हीं बहुत सारे कोणों में
युद्ध करने के गणित ने जो त्रिकोण बनाया
वही कोण गोलाकार बन गया
और इसी तरह
अर्धशताब्दी बीत रही है
युद्ध नहीं हुआ
पर रणभेरी बजती रही
आजादी के पैंतालीसवे दरवाजे के आर पार।

कलकत्ता, 2 जून, 1990

समय – गीत

चलो गाते जाएं
चलते जाएं
भले ही समय–असमय की
आत्मघाती प्रवंचना से अपने को
बार–बार छलते जाएं
चलो चलते जाएं।

चलना ही हमारी नियति है
इसलिए नहीं कि
हमने चलने के लिए
गन्तव्य–पथ की दूरियों से
अपने को जोड़ा है
इसलिए भी नहीं
कि जीवन की ऊब और घुटन ने
सपनों को
एक बार, दो बार नहीं
कई कई बार तोड़ा है
चलो हम चलते जाए
भले ही इतिहासहन्ता–समय, सत्य–असत्य
हमें छलते जाए
पर हम चलते जाएं।

कलकत्ता, 4 जून, 1990

आत्मीय-स्पर्श

चलो हम छूते रहें
एक दूसरे की आत्मीयता
जिससे अछूते न रहें।

चलो हम चलते रहें
पग से पग बांध
मन से मन
स्वर-ताल साध
जिससे अजीते न रहें।

चलो हम नापें दूरियां
सम्बन्धों की
और मजबूरी सुलगन कल्पों की
जिससे ओझल किसी राह दस्तावेजों में गड़े
अपने घावों को सीते न रहें।

चलो हम खोल दें
हृदय के ऊपर बंधी गांठें
जिससे दायरों में बंधे आत्मार्थ जीते न रहें।

कलकत्ता, 13 जून, 1990

आत्म-मथन

आत्म-मथन करने के लिए
यह जरूरी है कि हम जिस तरह
जहां और जिससे जुड़े
और टूटे
या टूटकर जुड़े
उन सदर्भों को याद करे
और यह भी कि
जितना कुछ प्राप्य था
नियति के जाल में फसी
आकाक्षाओं की मछलिया
अपनी खुली चमकीली आखों में
स्वप्न-जल की पिपासा लिए
जाल में
अपने को फसने दिया
इसलिए कि उनमें जीवन के प्रति
विश्वास था
और तट पर वे इस तरह मर रही है
जैसे विवशता के आर-पार
हमारे सपने अगाध आकाक्षा-
लहरों के बीच तैरते हुए
तट तक पहुचने की कोशिश में
चपल लहरों के खडयत्र से
छले जाते है
ऐसे में ही
आत्म-मथन के लिए
हम अतीत की खिड़की खोलकर
देखे कि
जो वसन्त आता है बहार बन कर
वही पतझर में कैसे बदल जाता है।

कलकत्ता, 14 जून, 1993

जीवन – समुद्र

हे समुद,
तुम मुझे भी उसी तरह अवगाहित करो
जैसे तट को अपनी लहरों का
अवगाहन देते हुए
नये नये रूप-रग सर्जित करते हो
उसी तरह अपने सागरिक-सौन्दर्य को समष्टि में बाटो
हे समुद्र तुम मेरे अधेरे को
अपनी करूणा-धार से काटो।

हे समुद, युग युगान्तर
अपराजित रहे तुम
नये-नये द्वीप बनाए
कहीं अपना विस्तार किए
कहीं उसे लघुतम किए
कहीं सैकत-छाया मे बैठकर
अपनी मर्यादित विराटता पर चिन्तन किए
और इसी तरह
अपनी हृदय-वेदना के अनगिन अचीन्हे
क्षितिजो की ओर प्रवाहित होते हुए
उद्वेलित होते रहे
तुम मेरे जीवन-आकाश पर घिरे हुए
अनियत्रित वेदना के काले बादलों,
तूफानी हवा को अपनी धार से छांटो।

हे समुद, तुम मेरे अंधेरे को
अपने हृदय के अपार असीमित
सौन्दर्य-प्रेम-आस्था की लहरों से
अवगाहित कर मेरा अपनत्व बांटो।

ुरी, 27 जून, 1990

अंधकार की आग का धुआं

दिन आया
बुझ गया
अंधकार की आग से उठता धुआं
पनघट पर भीड़ उमड़ पड़ी
सूखे आंसू रोता रहा उदास कुआं
उजाले ने अंधेरे का शिकार किया
साध्य-हृदय-क्षितिज पर
लहूलुहान होकर अंधकार
कराहता पड़ा रहा
पश्चिम-कोणार्क पर
किसी ने भी उसकी पीड़ा को नहीं छुआ
और यह भी नहीं जाना
कि वह फिर स्वस्थ होगा
उजाले को परास्त कर हम पर
अपना अधिकार जताएगा
आखिरकार इसी संग्राम से ही तो
जन-जन का जीवन युगों से बंधता रहा।
हर सुबह
दिन आता है
और बुझ जाता है
अंधकार की आग से उठता हुआ धुआं
और इसी तरह
जीवन-समय-छन्द के साज पर
उजाले और अंधेरे का समराग बजता रहा
नये नये रूपों में दिन सजता रहा।

कलकत्ता, 29 जून, 1990

रश्मि-वाण

हे सूर्य
तुम दिन-प्रतिदिन
अलख सबेरे
छोड़ते हो रश्मि-वाण
अंधेरे के ऊंघते सीने पर
करते हो घात-प्रतिघात
बदलते हो अपना रूप
क्षण प्रतिक्षण।

हे सूर्य
वह कौन सा आखेटक-नक्षत्र है
जिससे तुम घिर जाते हो
अंधकार में लुप्त हो जाती हैं
तुम्हारी रश्मि-प्रभा-किरणें
वह कौन है जो तुम्हे
निस्तेज कर देता है
और कंपा जाता है
धरती का अन्तर्मन।

हे सूर्य
तुम देते हो जगती-जनों,
प्रकृति को नव-प्राण
देते हो नई सुबह,
नये विश्वास
विश्वजयी है तुम्हारा रश्मिवाण
रोज ब रोज
अंधेरे पर करते आक्रमण।

हे सूर्य
तुम मुक्तिदाता हो
इस पृथ्वी पर जब भी, जहां भी

अधेरा होता है
उससे जनजन का करते हो परित्राण।
हे ज्योतिपुज सूर्य
तुम दिन प्रतिदिन
अलख सबेरे हमे जगाने के लिए
छोड़ते हो सप्तवर्णी
रश्मिवाण।

कलकत्ता, 30 जून, 1990

समय और सौन्दर्य

समय और सौन्दर्य को समझना
कठिन होता है
समय भागता है तेज
और उसी तरह सौन्दर्य
हमारी आखों को सम्मोहन-जाल में कसता
हमारी आकाक्षा के जहाज को
अपने हिल्लोलित-आकर्षण-शैवाल के आलिगन-पाश मे
गहरे में डुबो जाता है
समय और सौन्दर्य को समझना
कठिन होता है।

समय मागता है
हमारी अभीष्टि की सरचना
और सौन्दर्य
हमारी दृष्टि-कामना-सप्रीति-अर्चना
इस धरती पर
जो प्रकृति और मनुष्य के प्रति
प्रेम और आस्था से
अपने हृदय की झोली भरता है
वही तो समय और सौन्दर्य को
आत्मसात करता है।

कलकत्ता, 6 जुलाई, 1990

आधासाल बीतने पर

आधासाल बीता
आधा साल
इसी तरह बीतेगा
और आधा साल
संजोते, सजाते अनगिन सपने
भविष्य की चिन्ता-रेखा पार करने के लिए
रचना पड़ेगा रावणी-स्वाग
बनना पड़ेगा सोने का हरिण
भागना होगा दाए-बाए
हताशा की झाड़ियों के आर-पार
अंधेरे जगल के बीच लगानी पड़ेगी कुलांचे
भागना पड़ेगा हाल-बेहाल
और ऐसे ही बीत जाएगा
आधा साल की तरह
और आधा साल।

बीतने के ही लिए होते है दिन,
मास, ऋतुए, वर्ष
बीतने के ही लिए होते है सपने
आकाक्षाए, दुख-सुख, हर्ष, उत्कर्ष
समय-अस्तित्व को नित परिवर्तन
बार बार मार जाते है
हम बार बार जीने-मरने की प्रक्रिया दोहराते
और अपना युद्ध बार बार हार जाते है
फिर बच जाती है
कुछ स्मृतिया
और उन पर भी समय का पहिया
नये जीवन-अर्थ की रेखाएं खीच जाता है
फैला जाता है हमारे इर्द-गिर्द
मोह-पाशी-जाल
आधा साल की तरह यूं ही
बीत जाता है पूरा साल।

कलकत्ता, 11 जुलाई, 1990

उनींदी सांझ

यह उनींदी सांझ
मन में जगा जाती चाह
समय के दुस्वप्न-माया-जाल में
चेतना सहमी हुई
उन्मुक्त होना चाहती है
प्रीति की एक डोर से बंधना
हृदय को बाधना
फिर स्वयं को अनुराग की तीखी-व्यथा के
राग से अनुरक्त कर
प्यासे क्षणों को तृप्त करना चाहती है
यह उनींदी सांझ
आती रोज
पश्चिम दिशा से
आकाश-गंगा में नहाकर
गांव हो या शहर
दीपों से सजाती घर
सड़क फुटपाथ सजते
वाद्य बजते
कृषक हो या 'पचतारा' की नवेली गायिका
गीत के स्वर साज उठते
मन-विरह की मार से मारे हुए
घायल-हिरण की आह
यह उनींदी सांझ
मन में जगा जाती चाह।

कलकत्ता, 18 जुलाई, 1990

नारी – अस्तित्व

औरत जब पैदा होती है
तो एक मुट्ठी में वरदान
और दूसरी में अभिशाप की रेत
लेकर आती है
फिर जब सम्पूर्ण औरत बनती है
तिल तिल कर
मुट्ठी में बधी रेत
गिरती जाती है
कुछ कण सुहाग के विस्तर पर गिरते है –
जब अपना सर्वांग समर्पित करती है
कुछ कण बच्चों के मस्तक पर –
चुम्बन और आशीष बन चिपकते है
और बचे खुचे कुछ कण गिरते हैं।
अस्तित्व–सघर्ष में
जब विखरती जाती है मुझाएं फूल की तरह
उसके स्वप्न झरते है।
फिर वह नापने लगती है
पाप और पुण्य के बीच की दूरी
बन जाती है रिक्त–मेघ
जो एक आकाश से घुमड़ते हैं
और दूसरे आकाश में लुप्त हो जाते हैं
औरत शताब्दिया दर शताब्दियां
सभ्यता, कला, इतिहास का भार ढोती है
औरत इसीलिए
हां इसीलिए
पैदा होती है।

लखनऊ, 24 जुलाई, 1990

समय का दुःशासन

सबधों से बंधा समय का दुःशासन
नही मानता स्वजनों और गुरूओं की बात
सबसे बड़ा है यही उसका अभिमान
नही मानता वह द्रोणाचार्य
और भीष्म का उपदेश-ज्ञान
उसे तो चाहिए महत्वाकांक्षा का सिंहासन
केवल सिंहासन।

जब वर्तमान पीले पत्ते की तरह
झरता है अतीत-वृक्ष से
समय की कोंपलें विहस उठती हैं
डाल पर इतराती बयार
करती अस्फुट -
हो रहा भविष्य का आगमन
जन्मता नया स्वप्न-ससार
खोलता वर्तमान का बन्द द्वार,
अतीत के आगन को पार कर
बीते समय के दुर्योधन को मार।

लखनऊ, 28 जुलाई, 1990

फिर दरवाजे पर चोट

एक अस्पष्ट सी आहट
फिर दरवाजे पर चोट
कोई सोया है तो जागे
नींद से उठकर
और देखे
कौन आया है दरवा
कोई आत्मीय, कोई
कोई, या लुटेरा
छिपी

नींद है कि टूटती नहीं
सपने हैं कि स्वप्न-पाश से अलग होते नहीं
कि उठकर दरवाजे की सांकल
खोलकर देखें तो सही
कौन आया है ? दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां
स्वप्नाकांक्षी स्वप्न-चोर
आधी रात में
भयानक नीरवता के बीच
कौन आया है
इसी तरह वह पहले भी आया था
छीन लेने हमारी अस्मिता की भोर।

हां ऐसे ही वह आया था
जब हम अपने अपने सपनों की इकाइयों में बटे
गहरी नींद में सोए हुए थे
एक दूसरे के घरोंदे नष्ट करने की
साजिशों में खोए हुए थे
और उन्होंने हमारे घर के दरवाजे पर दस्तक लगाई थी
फिर तोड़ दिए थे दरवाजे
और आंख खुलने पर देखा गया
कि हमारे सपनों का घर नीलाम कर दिया गया था
और हमें सपनों से ही नहीं घर से भी बेघर कर
हमारी जमीन, हमारी नियति को
अपनी कह कर हमारी स्वाधीनता को
अपनी महत्वाकांक्षा के साथ जोड़ लिया था
इसी तरह उनकी शक्लों की परछाइयां
दोबारा उभर रही है पूरब से, पश्चिम से
दाएं से, बाएं से
हमें गहरी नींद में सुलाने के लिए कैसे कैसे करतब दिखाते
दरवाजे पर दस्तक लगाते,
धर्म की, जाति की राग अलापते
अस्मिता को चुनौती देते,
एकात्मकता के दरवाजे पर करते चोट।

पोर्ट ब्लेअर, 25 नवम्बर, 1990

नदी की लहर

प्राण में अनुरक्तता
नदी की लहर बन
अजुरी भर सम्मोहन-सिहरन, आलोड़न,
प्रीति-स्पदन का अहसास कराती
युगों से वह इसी तरह बहती है
आत्मलीन,
तट-विभोर, आत्मानदित
वन-प्रान्तर, गांव-गिराव
नगर-उपनगर के ओर-छोर
के उत्थान-पतन
परिवर्तन-द्वन्द को
करती
, सिकुड़ती, अपने सवेग का सतुलन सजोती
बहुत तीव्र प्रवाह
मन्द-मन्द पाव बढ़ाती
है।
प्रवाहित होते रहने की
का नाम ही

में नए बीज को
जाती
तरह सघन छाया बनो
की तरह सुगन्धित बनो
बनकर
प्रवाहित करो
सौन्दर्य
की लहर बन।

जानकी–शिला

क्या यही है वह सौभाग्यशाली जानकी–शिला
जिस पर बैठकर सुकुमारी जानकी
जल–केलि–क्रियाएं करती
मन्दाकिनी की तेज धारा में
अपने पावों को टिकाने के असफल प्रयत्न में
गिर–गिर पड़ती थीं। विहसती, खेलती
अंजुरी भर–भर जल राम की ओर फेंकती
उन्हें भिगोने की खातिर नहीं
वे तो जल–अर्चना करतीं थी
वह शिला क्या यही थी
जिसपर बैठकर सिया सुकुमारी
भींगे वस्त्रों में सृष्टि की
नैसर्गिक प्रतिमा सी अपनी रूप–छटा से
वन–प्रान्तर को आहलादित करतीं थी
और उनकी जल–क्रीणा देख
राम के हृदय में आनन्द–किरण छा जाती
होठों पर मन्द मुस्कान उभर आती
और वे यही सोचते, यदि जानकी बन में
नहीं आती तो मैं अकेला जगल की
गोपन–आत्म–कथा सुनते, अकेलापन जीते
थक जाता
फिर क्या मैं थके मन से
अपने पुरूषार्थ को सयोजित कर पाता ?
राम की चुप्पी तोड़ती सिया सुकुमारी
बार–बार उन्हें 'प्रमोद–वन' की ओर इंगित करतीं–
देखो कितनी सुन्दर छठा है
और यह वेगवती मन्दाकनी मेरे पावों में
अपनी शिलाओं के टूटे भग्नावशेष से
अतीत की चित्र–कथा लिखती है
क्या यह वही चित्र–रूप–शिला है
जिसपर जानकी बैठकर जल–क्रीड़ाएं करती
राम का हृदय–तरग बनती थी।

चित्रकूट, 22 अगस्त 1990

नदी की लहर

प्राण में अनुरक्तता
नदी की लहर बन
अंजुरी भर सम्मोहन-सिहरन, आलोड़न,
प्रीति-स्पंदन का अहसास कराती
युगों से वह इसी तरह बहती है
आत्मलीन,
तट-विभोर, आत्मानंदित
वन-प्रान्तर, गाव-गिराव
नगर-उपनगर के ओर-छोर
मनुष्य के उत्थान-पतन
समय-परिवर्तन-द्वन्द को
आत्मसात करती
फैलती, सिकुड़ती, अपने सवेग का सतुलन संजोती
कभी बहुत तीव्र प्रवाह
कभी मन्द-मन्द पांव बढ़ाती
चलती है।
निरन्तर प्रवाहित होते रहने की
आत्माभिव्यक्ति का नाम ही
नदी है
जो अन्तर में नए बीज को
अकुरित कर जाती
कि पेड़ की तरह सघन छाया बनो
कि फूल की तरह सुगन्धित बनो
कि प्रवाह बनकर
अपने को प्रवाहित करो
निरन्तर प्रवाहित सौन्दर्य
प्राणमय नदी की लहर बन।

चित्रकूट, 23 अगस्त, 1990

जीवन–प्रवाह

नदी ऊचे पहाड़ से चलकर समतल में बहती
अपने साथ पहाड़ का सदेशा लाती
कि सदा बहार बनो
नित नये रूपों परिवेशों का सृजन करो।
नदी ऊँचाई से चलकर
नीचे समतल मे बहती
समुद्र को अपना सर्वस्व आत्मसमर्पण करती
हमारे लिए जल और जीने के अनगिन आयाम जुटा
इसी तरह पेड़ हमें फूल, फल
छाया देते है।
घरों में रोटिया सिक सकें
अलाव पर,
चिता के लिए लकड़ियां देते,
धरती देती है शस्य–श्यामला–सपदा,
धरती पुत्रों को अन्न–जल, हरीतिमा,
और अन्त में अपने हृदय का समग्र प्यार।
लेकिन हम जितना नदी, पहाड़, पेड,
और धरती से लेते है
उतना भला कहाँ किसी को देते है।
अनन्त–काल से आदान–प्रदान की धारा
जीवन में प्रवाहित करती प्राण–अभ्यान्तर
नदी ही हमारी चेतना को भिगोती निरन्तर।

भुवनेश्वर, 29 अगस्त, 1990

मौन का बधन

चलो खोल दो बन्धन मौन का
छोड़ दो निसगता की भ्रम-व्यथा
चलो खोल दो बन्धन मौन का।
कलियों ने खोले
मौन-पटल
इसीलिए तो ये बन गईं फूल
पर्वत ने खोले
प्राण-गिरि-गुहा-द्वार
झरने बने नदी-दुकूल।
पछी ने खोले
पख-आवर्त अविकल
नाप लिए आकाश की ऊँचाई विस्तार
योजन दर योजन
इसी तरह दुग्धहसी ने आकार लिया
रूप-रग-रस-गंध में आया नवपरिवर्तन
यौवन ने ली अंगड़ाई
इसीलिए
बिना खोले मौन बंधन
नही होता नव निर्माण
चाहे हो अपनत्व की चाह
अथवा जीवन जीने की
इच्छा-अथाह।

भुवनेश्वर, 30 अगस्त 1990

पुतली-खेल

चल मेरी पुतली चल चल चल
इधर उधर की
मन की, जन की
बातें कहती चल प्रतिपल
चंचल तन के और छोर को नचा नचाकर
अभिनय कर
तोड़ कुहासा
अंग अंग के आलोड़न-तन -
प्रत्यावर्तन-नर्तन से
कभी शाह बन, कभी अकिंचन
मन के आर-पार छाया है
कितना अकथ-मौन-माया-छल
चल मेरी पुतली चल चल चल।

भुवनेश्वर, 31 अगस्त 1990

सन्नाटे का जाल

बुन जाता है कौन
सन्नाटे का जाल, अनस्वर
मन के आर पार
निरभ्र आकाश को ढ़कती जाती
नियति की मेघ-माला निरन्तर
प्राण के भीतर एक और प्राण बन
भर जाता है मौन...
जो जानते इस सत्य को
कि मौन का सन्नाटा तोड़ने के लिए
अनगिन आयामों को मन की झोली में
सहेजते जाना है जीवन पर्यन्त
और इस सहेजे को सहज-असहज भाव से
भोगना, भोगते जाना है।
प्राण-समुद्र में दूर-दूर तक लहरों का जाल
ऊपर सायं सायं
और भीतर धधक रहा सन्त्रस्त क्षणों का
लावा दुष्कर
और वह जब तीव्र संवेग से धधकता है
तो बुनता जाता मौन क्षणों का
विस्तृत जाल
बाहर-अन्दर
फिर कौन तोड़े भला
व्यथा-मौन
कौन तोड़े
चिरन्तन सत्य की खोज में
गहराए मौन से टूटी मौन की गांठे
कौन जोड़े। भला कौन तोड़े
सन्नाटे का अटूट जाल।

भुवनेश्वर, 1 सितम्बर 1990

गलियारे की धूप

गलियारे में खिली धूप
अपना दामन छुड़ा कर
चली जाती है
क्षितिज की ओर
पके ज्वार के खेत के ऊपर
शाम की काली छाया
चढ़ती जाती है
सुहागिन चौपाल में
दीपक जलाती
अटारी की सीढ़ियां
चढ़ती जाती
अचानक ही
परदेश बसे अपने की याद में
आखे गीली करती
आइने के सामने खड़ी होकर
कामना-सपने गढ़ती
और अपने ही रूप से
छली जाती निःस्वर।

कलकत्ता, 20 सितम्बर 1990

शब्द-चित्र

चलो हम शब्द-चित्र आके
भावों की तूलिका,
अनुभव के रंगों से
चलो हम शब्द-चित्र आके।

कितने ही मनोहारी द्वीप-पुंज
कितने ही हरेभरे सजे कुंज
फूलों की तरह-तरह क्यारियां
तरह-तरह वृक्ष, लता, वारियां
मनु के संदेशों के फटे हुए कैन्वस को
मिल जुल कर टांकें
फिर उस पर नये नये शब्द-चित्र आकें

कलकत्ता, 34 अक्टूबर, 1990

स्वप्नजीवी

छोड़ आया हूं। स्वप्न जीवी द्वीपों को
बहुत दूर
और अब आ गया हूं
सपाट धरती के एक कोने में
सिर्फ यह महसूस करने
कि जो भी स्वप्न जीवी द्वीप
मन में बसाते हैं
और उन पर कहीं न कहीं
अपनी आकांक्षाओं के वृक्ष उगाते हैं
वे कभी न कभी स्वयं द्वीप बन जाते हैं।

पोर्टब्लेयर, 29 अक्टूबर, 1990

प्यार कभी मरता नहीं

प्यार कभी मरता नहीं
सुन्दरता नष्ट नहीं होती
वह केवल रूप बदलती है।
सुन्दरता वह नहीं है जो हम देखते हैं
सुन्दरता वह है जो हम अनुभव करते हैं।
जैसे जैसे सुन्दरता अपने रूप बदलती है
वैसे वैसे अनुभव के आयाम बदलते रहते हैं
और हमारे अनुभव की सुन्दरता बदलती रहती है
हमारे मन-प्राण में आस्था की नदी बहती है –
सौन्दर्य की अनुभूति
और हमारी सोई हुए चेतना –
स्वप्न-श्रोतों को नये प्रवाह से सरसती है
समय जिस तरह कभी ठहरता नहीं है
प्यार कभी मरता नहीं है
सुन्दरता कभी नष्ट नहीं होती
नये नये संदर्भों, नये परिवेशों में
केवल अपने रूप बदलती है।
प्यार की तरह सुन्दरता भी मन को छलती है
जब प्यार के लिए सुन्दरता अपना अस्तित्व नहीं खो
तभी सुन्दरता नष्ट नहीं होती।

कलकत्ता, 5 नवम्बर, 1990

संबध

तट ने कहा लहर से-
तुम आओ, मुझे छुओ
लहर आई
और अपने साथ
ढेर सारा प्रीति-स्तवन-आलोड़न लाई
कहा उसने
तुमने बुलाया और मैं आई
तुम्हें अवगाहित किया
तुमने जो चाहा सब कुछ दिया
अब चलो मेरे साथ।

तट कुछ क्षण स्तब्ध रहा
फिर बोला -
यदि मैं तुम्हारे साथ जाऊंगा
तो तुम्हारी तरह मैं भी लहर बन जाऊंगा
फिर नहीं रह पाऊंगा तट
मैं लहर कहलाऊंगा
इसलिए
प्रीति की अस्ति के लिए
अस्तित्व अनिवार्य है।

पोर्टब्लेयर (अंडमान), 26 नवम्बर, 1990

प्रातः की पहली किरण के साथ

प्रात की पहली किरण के साथ उड़ता
चल पड़ा है नीड़ का पछी अकेला
नील नभ के बीच,
कल्पना की घाटियों
वन-उपवनों,
अस्ति की गिरि कंदराओं,
मरूस्थलों को पार करता
पख पर सघर्ष का इतिहास लादे
लक्ष्य-भेदी आख के प्रत्यच पर
संधान साधे
प्राण की इक डोर से
अपनत्व बाधे
कहीं कटता
कहीं जुड़ता
प्रात की पहली किरण के साथ उड़ता।

भाव के भटकाव में
धूपमन के छाव में
वेदना के क्षितिज में चक्कर लगाता
पथ हारा
किधर जाएगा भला
कितना उड़ेगा
धूप के आकाश में जन्मा पला।
पख को संत्रास की तीखी व्यथा से फड़फड़ाता
किस अंधेरे के बसेरे से जुड़ेगा
प्रात की पहली किरण के साथ उड़ता
नये क्षितिजों में विचरता
उड़ेगा
फिर फिर उड़ेगा।

कलकत्ता, 1 नवम्बर, 1990

प्रेम की परिभाषा

मनुष्य नहीं कर पाया आज तक
प्रेम की परिभाषा।
युगों से वह लिखता आया है
अबूझ-अगूढ़ अनुभव की
विविध भाषा
पर भोग नहीं पाया
एकान्तिक प्रेम की अभिलाषा
क्योंकि मनुष्य
प्रकृति से सीख नहीं पाया
और नहीं अपने जीवन से
एकनिष्ठ आस्था
और यह स्थिति संभवत इसलिए भी है
कि खण्ड खण्ड हुए जीवन को
जीते भोगते
या भोगने की यत्रणा सहते
वह सहेज नही पाया
आस्था के संबल
और समय की रेत में वह निरंतर
रेखाकित करता रहा अपना नाम
फिर दूसरे ही क्षण
चचल हवा की
निष्ठुरता ने उसे मिटा दिया
वसन्त की कली
प्रेम-सवेदना की आतुर-व्यथा को
अपने प्रस्फुटन में रूपायित करती
प्रेम सौन्दर्य को
नया अर्थ देती ।

कलकत्ता, 7 दिसम्बर, 1990

धरती मेरा तन

धरती मेरा तन
और अंग-प्रत्यंग उसके
नदी, निर्झर, पर्वत, उपत्यिकाए, वन, कानन
धरती मेरा तन
और उसमें हिल्लोलित सागर सपनों का
निरन्तर उठती गिरती लहरों के थपेड़ों से आहत होता
तटबध – मन
धरती मेरा तन और उसमें
छह ऋतुओं का होता रहता निरन्तर परिवर्तन
वर्षा, शरद, शिशिर, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म..
वर्षा में दुख की नदी बहती आकुल
शरद मे भावनाओं के स्वच्छाकाश में
स्मृतियों की रूपहली बदली घिरती
शिशिर की ठडी हवाओं से ठिठुरता
अमूर्त कल्पना के वृक्ष तले
प्राण-चेतना का सुनहरा-मृग विश्राम करता
और हेमन्त आने पर क्लान्त मन को
वसन्ती-इन्द्रधनुषी-कल्पना में रंग लेता
अदृश्य अगोचर उस सुख की
अपलक प्रतीक्षा करता
और वसन्त आगमन पर
नेह की उमगती अभिलाषित नदी की धार बनता
मेरा तन।

कलकत्ता, 8 दिसम्बर, 1990